

# तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : अष्टम अध्याय

✽ विषय-परिचय ✽

कुल सूत्र : २६ कुल प्रश्न : ५४२

- ◆ प्रथम सूत्र में बन्ध के हेतुओं का कथन है।
- ◆ दूसरे-तीसरे में बन्ध का लक्षण एवं भेद कहे गये हैं।
- ◆ ४थे-५वें सूत्र में मूल प्रकृतियों के नाम एवं उत्तर भेदों की संख्या बताई है।
- ◆ छठे से तेरहवें सूत्र तक उत्तर प्रकृतियों के नाम हैं।
- ◆ १४वें से १७वें सूत्र तक उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का कथन है।
- ◆ १८वें से २०वें सूत्र तक जघन्य स्थिति बन्ध का वर्णन है।
- ◆ २१वें से २४वें सूत्र तक अनुभाग बन्ध का कथन है।
- ◆ २५वें-२६वें सूत्र में पुण्य-पाप प्रकृतियों का कथन है।

बन्ध के हेतु

## मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः ॥१॥

मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बन्धहेतवः ।

(मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (बन्धहेतवः) बन्ध के हेतु हैं।

अर्थ - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन - तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।

अविरति - विरति का अभाव होना अविरति है।

प्रमाद - अच्छे कार्यों को करने में आदर भाव न होना प्रमाद है।

कषाय - जो आत्मा को कषती है, वह कषाय है।

योग - मन, वचन, काय की क्रियाओं को योग कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से लिखा गया है ?

उत्तर : यद्यपि छोटे और सातवें अध्याय में विविध फल के अनुग्रहतन्त्रभूत आस्रव के प्रकरणवश विस्तारपूर्वक आत्मा के कर्मबन्ध के कारणों का वर्णन कर चुके हैं; फिर भी संक्षेप में बन्ध के हेतु कौन-कौन से हैं ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १)

२. प्रश्न : बन्ध क्या है ?

उत्तर : बन्ध चेतन और अचेतन द्रव्यों का परिणाम है। यद्यपि बन्ध नामादि की अपेक्षा चार प्रकार का है तथापि वह द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा दो अवस्थाओं को धारण करता है। उसमें जतुबन्ध, काष्ठ बन्ध, रज्जुबन्ध, बेड़ी का बन्ध आदि की अपेक्षा द्रव्य बन्ध बहुत प्रकार का है एवं भावबन्ध-नोकर्म बन्ध और कर्म बन्ध के भेद से दो प्रकार है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्मबन्ध है। जो कर्म बन्ध है उसको पुनर्भविक कर्म बन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि-सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि-अनन्त जानना चाहिए। क्योंकि बीज और अंकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तति चलती रहती है। यहाँ (आठवें अध्याय में) द्रव्य बन्ध का वर्णन न करके प्रकरण की सामर्थ्य से भाव-बन्ध का वर्णन किया गया है। (रा.वा.उ.१)

३. प्रश्न : बन्ध के प्रत्यय कितने हैं ?

उत्तर : राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय हैं, इनसे कर्मों का आस्रव होता है। (न.च.वृ. ३०१)

बन्ध के निश्चय से चार प्रत्यय कहे गये हैं -

(१) मिथ्यात्व (२) अविरमण (३) कषाय (४) योग। (स.सा. १७१)

बन्ध के पाँच प्रत्यय कहे गये हैं-

(१) मिथ्यादर्शन (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग। (त.सू. ८/१ सू.)

कर्मबन्ध के मूल हेतु चार हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) असंयम (३) कषाय (४) योग।

इनके उत्तर भेद सत्तावन हैं-

५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह प्रमाद। (गो.क. ७८६)

नैगम, संग्रह व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय वेदना (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) रात्रि भोजन (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) राग (१२) द्वेष (१३) मोह (१४) प्रेम (१५) निदान (१६) अभ्याख्यान (१७) कलह (१८) पैशुन्य (१९) रति (२०) अरति (२१) उपधि (२२) निकृति (२३) मान (२४) माया (२५) मोष (२६) मिथ्याज्ञान (२७) मिथ्यादर्शन और (२८) प्रयोग इन प्रत्ययों से होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के प्रत्ययों की प्ररूपणा करनी चाहिए। (ध. १२/२७५-२८५)

बन्ध के प्रत्यय दो हैं- (१) कषाय (२) योग। (द्र.सं. ३३)

पाँच मिथ्यात्व, पाँच अविरति, चार कषाय, तीन योग ये सब कर्मों के आस्रव के द्वार हैं, ऐसा आगम में भली प्रकार कहा गया है। (बा.अ. ४७)

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये ही संक्षेप से बन्ध के हेतु हैं। इससे अधिक जो कुछ कहना है सो इन्हीं का विस्तार है। (तत्त्वा. ८)

४. प्रश्न : सूत्र में सर्व प्रथम बन्ध के स्वरूप को न बताकर बन्ध के हेतुओं का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : कारण के अभाव में बन्ध का सामर्थ्य कहना वा बन्ध की वार्ता करना निस्सार है। क्योंकि यदि बन्ध बिना हेतुओं के माना जाता है तो अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग आता है अर्थात् मोक्ष कभी नहीं हो सकेगा, क्योंकि अकस्मात् मोक्ष का अभाव है। यदि अकस्मात् बन्ध, मोक्ष होता है तो कैसे होता है वा किससे होता है ? अकस्मात् बन्ध और मोक्ष ? यह प्रश्न उठता है, अतः बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया के विरोध का प्रसंग होने से बन्ध और मोक्ष अकस्मात् नहीं हैं। बन्ध को कहकर पुनः बन्ध के कारणों को कहना उपयुक्त नहीं है, इसलिए बन्ध के कारणों (हेतुओं) का निर्देश आदि में (पहले) किया गया है। (रा.वा. उ. १)

बन्ध के हेतु रहितपन, कूटस्थपन और अकारणपन की निवृत्ति के लिए पहले बन्ध के हेतुओं को कहा गया है। (श्लो. ७/१)

५. प्रश्न : पूर्व में मोक्ष के कारण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) कहे हैं अतः बन्ध के कारण पाँच कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : इस सूत्र में बन्ध के कारण पाँच कहे गये हैं अतः बिना कहे सामर्थ्य से उस बन्ध का विपर्यय होने से मोक्ष के कारण भी सूत्र द्वारा पाँच ही समझ लेने चाहिए। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार सूत्रकार का पूर्वापर विरोध नहीं है। (श्लो. ७/१३)

६. प्रश्न : मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (वृ. द्र.सं.टी. ३०)

छठे अध्याय में आस्रव के प्रकरण में कथित पच्चीस क्रियाओं में उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया में मिथ्यादर्शन अन्तर्भूत है। (रा.वा. १)

भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। (नि.सा.ता. ११)

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। (भ.आ. ५५ वि.)

७. प्रश्न : मिथ्यादर्शन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन तीन प्रकार का है-

(१) संशय (२) अभिगृहीत (३) अनभिगृहीत। (भ.आ. ५५) अथवा (१) आप्त, आगम, पदार्थों का अश्रद्धान (२) विपर्यय (३) संशय। (य.ति.च. ६/११८) मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। (१) एकान्त मिथ्यादर्शन (२) विपरीत मिथ्यादर्शन (३) संशय मिथ्यादर्शन (४) वैनयिक मिथ्यादर्शन (५) आज्ञानिक मिथ्यादर्शन। (रा.वा. २८)

मिथ्यात्व दो प्रकार का है-

(१) नैसर्गिक मिथ्यादर्शन (२) परोपदेशिक मिथ्यादर्शन। (रा.वा. ६)

(१) मूढत्व (२) स्वभाव निरपेक्ष। (न.च. वृ. ३०३)

अथवा - (१) जीव के नास्तिक्य भावरूप (२) अन्य पदार्थों में जीव के अभिमान रूप। (सि.वि.टी. ४/११) एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्व परिणाम अनेक प्रकार के हैं। (भ.आ. २३ टी.) जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय होते हैं। इस वचन के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच ही भेद हैं, यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है, यह कहना उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। (ध. १/१६३)

अथवा - मिथ्यात्व सात प्रकार का है-

- (१) सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान इन दो को मोक्ष का साधन मानने वाला।
- (२) सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र से मोक्ष मानने वाला।
- (३) सम्यग्ज्ञान और समयचरित्र से मोक्ष मानने वाला।
- (४) सम्यग्दर्शन से मोक्ष मानने वाला।
- (५) सम्यग्ज्ञान से मोक्ष मानने वाला।
- (६) सम्यक् चारित्र से मोक्ष मानने वाला।
- (७) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनों को मोक्ष का कारण नहीं मानना। (सु.र.सं.

१४७)

अथवा - (१) ऐकान्तिक (२) सांशयिक (३) मूढ (४) स्वाभाविक (५) वैनयिक (६) व्युद्ग्राहित (७) विपरीत। (व.चा. ११/४)

८. प्रश्न : नैसर्गिक मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वार्थ अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। (रा.वा.७)

जिस प्रकार अंधेरे में काले वस्त्र से वेष्टित मनुष्य भीतर के अनेक प्रकार के चित्र को, अनेक वस्तुओं को नहीं देख सकता है उसी प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व से तिरस्कृत जीव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए यथार्थ वस्तुस्वरूप को नहीं देख सकता है। (सु.र.स. १३६)

दूसरे के उपदेश के बिना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्म के उदय से हो जाता है वह अनभिगृहीत (नैसर्गिक) मिथ्यात्व है। (भ.आ.वि. ५५)

९. प्रश्न : नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : नैसर्गिक मिथ्यात्व अनेक प्रकार का है-

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि स्वामियों के भेदों की अपेक्षा अनेक भेद हैं। (रा.वा. २७)

१०. प्रश्न : स्वाभाविक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : स्वाभाविक मिथ्यात्व से जिसका अन्तःकरण कलुषित हो चुका है वह जिस किसी सत्य शास्त्र को सुनता या पढ़ता है उसे ही अपनी मति के अनुसार कुमार्ग के समर्थन में लगाकर दूषित करता है। उसकी अवस्था साँप के समान होती है जिसे शक्कर मिला मिष्ट दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह विष ही उगलता है। (व.चा. ११/९)

११. प्रश्न : परोपदेशिक मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार चमड़े के टुकड़ों से परिपूर्ण चमार का कुत्ता अन्नरूप भोजन की इच्छा नहीं करता है उसी प्रकार खोटे हेतु और उदाहरण रूप वचनों से परिपूर्ण पुरुष भी जिनेन्द्र द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूप को अन्यथा स्वीकार करता है। वह गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। (सु.र.सं. १३५)

परोपदेश की मुख्यता से स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवादि द्रव्य नहीं हैं, यह स्वीकार करो। या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं इस प्रकार जब दूसरे के वचन को सुनकर जीवादि के अस्तित्व में या उनके अनेकान्तात्मक होने में जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है। (भ.आ.वि. ५५) पर के उपदेश वा कुशास्त्रों के सुनने से जो अतत्त्व श्रद्धान हो वह गृहीत मिथ्यात्व है। (हरि. पु. ५८/१९४)

१२. प्रश्न : परोपदेशिक मिथ्यात्व कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परोपदेशिक मिथ्यात्व चार प्रकार का है-

(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानी (४) वैनयिक। (रा.वा. ८)

परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। उनको भी लगाना चाहिए। परिणामों के विकल्प की अपेक्षा और अनुभाग भेद की अपेक्षा इस मिथ्यादर्शन के असंख्यात और अनन्त भेद भी होते हैं। (रा.वा. २७)

१३. प्रश्न : व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : मिथ्यामार्गियों के भ्रान्त दृष्टान्तों पर श्रद्धा करने के कारण व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टि को सन्मार्ग स्पष्ट होने पर भी सूझता नहीं है क्योंकि उसकी सद्बुद्धि उक्त संस्कारों के कारण पंगु हो जाती है फलतः उसकी वही दुर्दशा होती है जो उन लोगों की होती है जो जन्मांध चोरों के कहने में आकर घने जंगल में चले जाते हैं और वहीं विनाश के मुख में जा पड़ते हैं। (व.चा. ११/१२)

१४. प्रश्न : क्रियावादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : क्रियावादी के एक सौ अस्सी भेद हैं-

नीति-निश्चय, स्वभाव-वस्तु का स्वभाव, दैव-पूर्व कर्म का उदय, पौरुष-उद्यम, काल-समय। ये पाँच स्व-आप, पर-दूसरा, नित्य-स्थिर, अनित्य-अस्थिर। इन पाँच को चार से गुणा करने पर बीस होते हैं। इन बीस को नौ पदार्थों से गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद होते हैं। इनमें से एक-एक अंश का वाद करता है। (हरि.पु. १०/५०)

कौकल, कान्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारीत, अश्वमुण्ड आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के चौरासी भेद हैं। (रा.वा. ९)

१५. प्रश्न : अक्रियावादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : अक्रियावादी के चौरासी भेद हैं

जीवादिक सात तत्त्व को स्वतः परतः से गुणा करने पर चौदह भेद हैं। इन चौदह को नियति, स्वभाव, काल, दैव, पौरुष इन पाँच से गुणा करने पर सत्तर भेद हैं।

नियति और काल ये दो भेद स्वतः से होते हैं, इनको सप्त तत्त्व से गुणा करने पर चौदह भेद हुए।

उपर्युक्त सत्तर और चौदह मिल कर चौरासी भेद हुए। (एक-एक भेद का छल-कपट से वाद करके मोक्ष के उपाय से विमुख होकर अक्रियावाद को मानता है उद्यम नहीं करता है। (हरि.पु. १०/५१-५३) मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनों के भेद से अक्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद हैं। (रा.वा. १०)

१६. प्रश्न : अज्ञानवादी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : अज्ञानवाद के ६७ भेद हैं-

नव पदार्थों तिन कूं सप्त भंगकरि गुणिए (नौ पदार्थों को अस्ति-नास्ति आदि सात भंग से गुणा करने पर) तरेसठ भेद हुए।

(१) कोई सदभाव का पक्षी है, (२) कोई असदभाव का पक्षी है (३) कोई सत्यासत्य का पक्षी है (४) और कोई अवक्तव्य का पक्षी है।

इस प्रकार तरेसठ में इन चार को मिलाने पर सड़सठ भेद होते हैं। (हरि. १०/५४-५८) साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि मतों के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के सड़सठ भेद हैं। (रा.वा.११)

१७. प्रश्न : विनयवाद के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : विनयवाद के बत्तीस भेद हैं-

मन, वचन, काय और दान से माता, पिता, देव, नृप, जाति, बाल, वृद्ध, तपस्वी इन आठ की विनय करना इस प्रकार (४८) बत्तीस भेद विनयवाद के हैं। (हरि.पु. १०/५९-६०) वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, ऐलापुत्र, औपमन्यु, इन्द्रदत्त, अयस्थूल आदिकों के मार्गभेद से वैनयिक बत्तीस होते हैं। (रा.वा. १२)

१८. प्रश्न : मूढ़त्व एवं स्वभाव निरपेक्ष मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : मूढ़त्व मिथ्यात्व : जिसके उदय से जीव तत्त्वों को विपरीत रूप से ग्रहण करता है। जो नास्तित्व से सापेक्ष अस्तित्व को अथवा अस्तित्व से सापेक्ष नास्तित्व को नहीं मानता है, वह द्रव्यमूढ़ होने के कारण सर्वत्र मूढ़ है।

स्वभाव निरपेक्ष : श्रुत के हेतु से होने वाला मिथ्यात्व स्वभाव निरपेक्ष होता है। मिथ्या प्रकृतियों के उदय के कारण वह क्षण आदि भावों को प्राप्त नहीं होता है। (न.च. वृ. ३०३-३०५)

१९. प्रश्न : एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यह ऐसा ही है, इसी प्रकार है' इस प्रकार धर्म तथा धर्मों के विषय में एकान्त अभिनिवेश रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे- यह सारा संसार ब्रह्म स्वरूप ही है, नित्य ही है, वा अनित्य ही है इत्यादि रूप से एकान्त की अवधारणा करना। (रा.वा. २८) जीवादि वस्तु का स्वभाव नित्यता ही है अनित्यता नहीं है। इसे एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। (भ.आ. २३) सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, अनित्य ही है, नित्य ही है आदि एकान्त अभिनिवेश एकान्त मिथ्यात्व है। (ध.पु. ८/२०)

विज्ञान, नित्यत्व, सुखित्व, कर्तृत्व, विमुक्ति (अकर्तृत्व) और उस कर्तृत्व हेतुक कृतज्ञता आदि ये सर्वथा जीव के गुण नहीं हैं- विवक्षा भेद के अनुसार वे कथंचित् जीव के गुण हैं और कथंचित् नहीं भी है परन्तु एकान्त मिथ्यादृष्टि उन्हें सर्वथा ही जीवगुण मानता है। (सु.र.सं. १३१)

द्रव्य-पर्याय रूप पदार्थ में अथवा रत्नत्रय में किसी एक का ही निश्चय करना एकान्त मिथ्यात्व है। (म. पु. ६२/३००)

२०. प्रश्न : एकान्त मिथ्यात्व में कौन-कौन से वाद आते हैं ?

उत्तर : कालवाद, ईश्वरवाद, आत्मवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद, लोकवाद। ये मिथ्या वादों के भेद हैं। (गो. क. ८७७-९४)

अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, अपेक्ष-अनपेक्ष, दैव-पुरुषार्थ, अन्तरंग-बहिरंग, हेतु-अहेतु, अज्ञान से बन्ध और स्तोकज्ञान से मोक्ष, पर के दुःख और अपने सुख करे तो पाप, पर के सुख और अपने दुःख करे तो पुण्य। ऐसे दस पक्ष में सप्त भंग लगाकर सत्तर भंग हुए। इनका सर्वथा एकान्त मानना दूषण है। (आ.मी. के आधार से)

जिस मत में जीव को सर्वथा क्षणिक बताया है, उस मत में कर्मों को अन्य जीव करता है, उनके फलों को अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदि के भक्षण करने में दोष ही नहीं समझते उनका वह दुःख देने वाला दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धि से कल्पना किया हुआ बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्व है। (प्र.श्रा. ४/१७-१८)

२१. प्रश्न : ऐकान्तिक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : एकान्त मिथ्यात्व ने जिस जीव के आत्मा को अपने अन्धकार से ग्रस लिया है, वह जीव, अजीव आदि के क्रम से इन तत्त्वों को समझ ही नहीं सकता है। ऐसा समझिए कि वह 'जन्म से अंधे' व्यक्ति के समान चित्र, मूर्ति आदि सुन्दर कार्यों को न तो देख सकता है और न जान ही सकता है। (व.चा. ११/५)



२२. प्रश्न : विपरीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सपरिग्रह मानव भी निर्ग्रन्थ है, केवली को कवलाहारी कहना, स्त्री को मुक्ति हो सकती है, इत्यादि कथन अथवा इस प्रकार की धारणा विपरीत मिथ्यात्व है। (रा.वा. २८) हिंसा, अलीकवचन, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान इन से ही मुक्ति होती है, ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व है। (ध. ८/२०) दुर्गति में ले जाने वाली हिंसा को स्वर्गादि का हेतु मानना तथा अहिंसा को दुर्गति का कारण मानना विपर्यय मिथ्यात्व है। (भ.आ.वि. २३)

ज्ञान, ज्ञायक और ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप का विपरीत निर्णय विपरीत मिथ्यादर्शन है। (म.पु. ६२/३०१) तीन मूढ़ता रूप मिथ्यात्व के वश से मनुष्य परिग्रह से सहित भी जनों को तपस्वी, बहुत प्रकार से किये जाने वाले प्राणियों के वध में भी धर्म तथा अनेक दोषों से संयुक्त देवों को भी यथार्थ देव बतलाया करता है। (सु.र.सं. १३०)

२३. प्रश्न : कौनसा मत विपरीत मिथ्यात्व है ?

उत्तर : जिस मत में जीवों की हिंसा से पुण्य बतलाया गया हो, स्नान से शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मों में लगे हुए हों, गुरु लोग काम की लालसा में लिप्त हों, जिसमें पशु, वृक्ष आदि की पूजा करना बतलाया हो और जहाँ मृत मनुष्यों का तर्पण बताया है, उसे विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिए। (प्र.श्रा. ४/१९-२०)

२४. प्रश्न : विपरीत मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है?

उत्तर : विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव संसार के प्रत्येक पदार्थ को उल्टा ही समझता है। उसकी मति इतनी दूषित हो जाती है कि वह किसी पदार्थ के वास्तविक रूप को परख ही नहीं सकता है। जैसे- पानी की धारा पर तेजी से बहती नौका पर बैठा नाविक आसपास के पर्वत, वन और भूमि को तेजी से दौड़ता हुआ देखता है, अपने आपको नहीं। (व.चा. ११/१२)

२५. प्रश्न : संशय मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग हो सकते हैं, या नहीं, इस प्रकार दोलित (संशयालु) चित्तवृत्ति संशय मिथ्यात्व है। (रा.वा. २८)

सर्वत्र संदेह ही है, निश्चय नहीं है इत्यादि अभिनिवेश संशय मिथ्यात्व है। (ध. ८/२०) जिसमें तत्त्वों का निश्चय नहीं है ऐसे ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। (भ.आ.वि. ५५ टी.) वस्तु के स्वरूप का कुछ भी निश्चय नहीं करना संशय मिथ्यात्व है। (भ. आ. २३ टी.) मिथ्यात्व के उदय से जिस मनुष्य के वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा निर्दिष्ट समस्त तत्त्व वैसे ही हैं अथवा नहीं हैं, ऐसा संदेह बना हुआ है उसे तत्त्व का निश्चय सर्वथा नहीं हो पाता है, उसे सांशयिक मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। (सु.र.सं. १३३)

२६. प्रश्न : संशय मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : जिस व्यक्ति का चित्त संदेह मिथ्यात्व के रंग से सराबोर है, वह यह भी नहीं निश्चित कर पाता है कि हिंसा करना धर्म है अथवा अहिंसा पालन श्रेयस्कर है। जिस किसी विषय को सोचता है वहीं उसकी बुद्धि संदेह में पड़ जाती है। वह उस द्रष्टा के समान होता है जो बहुत दूर खड़े पशु को देखकर यह निर्णय नहीं कर पाता है कि वह कुत्ता है या गाय। (व.चा. ११/६)

२७. प्रश्न : किनके संशय मिथ्यात्व होता है ?

उत्तर : जो तीर्थंकर अरहन्तदेव में भी आहार-कल्पना करते हैं, स्त्रियों को भी मोक्ष होना बतलाते हैं, जो वर्द्धमान स्वामी का गर्भापहरण मानते हैं, जो लकड़ी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्म का साधन मानते हैं वह दुःख देने वाला सांशयिक मिथ्यात्व है। (प्र.श्रा. ४/२२-२३)

२८. प्रश्न : वैनयिक मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सभी देवताओं और सभी शास्त्रों में बिना विवेक के समभाव रखना, सभी का समान विनय करना वैनयिक मिथ्यात्व है। (रा.वा. २८)

ऐहिक एवं पारलौकिक सभी सुख विनय से ही प्राप्त होते हैं न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास जनित क्लेशों से, ऐसे अभिनिवेश का नाम वैनयिक मिथ्यात्व है। (ध. ८/२०) जिस प्रकार देवगृह के ऊपर स्थित ध्वजा वायु से कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है, चंचल रहती है उसी प्रकार विनय मिथ्यात्व के अधीन हुए प्राणी की प्रतीति (श्रद्धान) भी समस्त धर्मों रूप वायु से कम्पित होकर स्थिर नहीं रहती है। (सु.र.सं. ७/५) जिस मत में प्रतिदिन पात्र-अपात्रों की, देव-अदेवों की सबकी विनय की जाती हो वह तपस्वियों का विनय मिथ्यात्व कहलाता है। (प्र.श्रा. ४/२१) मन, वचन, काय से सभी देवों को प्रणाम करना, समस्त पदार्थों को मोक्ष का उपाय मानना विनय मिथ्यात्व है। (म.पु. ६२/३०२)

२९. प्रश्न : वैनयिक मिथ्यादृष्टि की दशा कैसी होती है ?

उत्तर : विनीत मिथ्यात्व के नशे के कारण जिसका हृदय मूर्छित हो गया है वह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी तथा अन्य जलाशय आदि को देवता मानता है। इतना ही नहीं उसकी समझ के अनुसार स्वर्ग में रहने वाले देवताओं के द्वारा आकाश में पताका भी फहरायी जाती है। (व.चा. ११/१०)

३०. प्रश्न : आज्ञानिक मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : हित और अहित की परीक्षा का न होना अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से शून्य हृदय का होना आज्ञानिक मिथ्यात्व है। (रा.वा. २८)

नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीवादि पदार्थ नहीं हैं अत एव सब अज्ञान ही है; ऐसे अभिनिवेश को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। (ध.पु. ८/२०) अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जीवों के होता है, जो शून्यवादी हैं और जिनमें भक्ष्य-अभक्ष्य का कुछ विचार नहीं होता है। (प्र.श्रा. ४/२४) पाप से

युक्त और धार्मिक ज्ञान से रहित जीवों के इसके उदय से उत्पन्न परिणाम अज्ञान मिथ्यात्व है। (म.पु. ६२/२९८)

३१. प्रश्न : पुरुष के द्वारा रचित होने से अर्हन्त के वचनों को आगम कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : अर्हन्त के परमागम को पुरुष रचित होने से अप्रमाण (परमागम नहीं है) कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह अतिशय ज्ञानों का आकर है। इस आगम में नय, प्रमाण आदि अधिगम के उपायों से बन्ध-मोक्ष आदि का समर्थन तथा जीव-अजीवादि तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण है, अतः रत्नाकर की तरह आर्हत् आगम ही समस्त अतिशय ज्ञानों का आकर होने से परमागम है। (रा.वा. १६)

३२. प्रश्न : आर्हत् प्रवचन में दिया गया अतिशय ज्ञानों का 'आकर' हेतु अनेकान्तिक होने से वास्तविक हेतु नहीं है क्योंकि व्याकरण आदि का अतिशय अन्यत्र भी देखा जाता है ?

उत्तर : अतिशय ज्ञानों का आकर हेतु अन्यत्र मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्यत्र देखे जाने वाले अतिशय ज्ञानों का मूल उद्भवस्थान आर्हत् प्रवचन ही है। जैसे कि रत्नों का मूल उद्भवस्थान समुद्र है। कहा भी है यह सम्यक् सुनिश्चित है कि अन्य मतों में जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं वे तुम्हारी ही हैं, वे सब चतुर्दश पूर्व रूपी महासागर से निकली हुई जिनवाक्य रूपी जल की बिन्दु हैं। (रा.वा. १७)

३३. प्रश्न : आर्हत् प्रवचन को सर्व अतिशय ज्ञानों का उत्पत्ति-स्थान कहना श्रद्धामात्र है, युक्तिसंगत नहीं है ?

उत्तर : आर्हत् प्रवचन को सर्व अतिशय ज्ञानों का उत्पत्तिस्थान कहना केवल श्रद्धागम्य नहीं है अपितु युक्तिसिद्ध है क्योंकि जैसे गाँव, नगर आदि अनेक स्थानों में रत्न प्राप्त होते देखे जाते हैं परन्तु उनका उत्पत्ति स्थान रत्नाकर समुद्र ही है, अधिकतर रत्न वहीं होते हैं। वैसे ही सर्वातिशय ज्ञान के मूल निधानत्व होने से आर्हत् प्रवचन ही सर्व अतिशय ज्ञानों का मूल आकर है, ऐसा जानना चाहिए। (रा.वा. १८)

३४. प्रश्न : मिथ्यादृष्टि कैसा होता है ?

उत्तर : (प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उदय से अतत्त्व में श्रद्धान करने वाला होता है इस जीव में स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता है।) आप्त-आगम और निर्ग्रन्थ गुरु पर ये विश्वास नहीं करते। ये जीव दान आदि पुण्य कार्यों से स्वर्ग के सुख भी पा लेते हैं। स्वर्ग में शान्त परिणामों के प्रभाव में काल आदि लब्धियाँ पाकर ये स्वयमेव अथवा दूसरों के निमित्त से समीचीन सम्यग्दर्शन रूप धर्म को प्राप्त कर सकते हैं। यह बात निकट काल में मोक्ष प्राप्त करने वाले भव्य मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा से कही है। परन्तु जो निरन्तर भोगों में आसक्त, पर-नारी-रमण और आरम्भ-परिग्रह के द्वारा पाप का संचय करते हैं, वे संसार में भटकते हैं।

३५. प्रश्न : मिथ्यात्व अनादि है या सादि ?

उत्तर : अभव्य जीव के मिथ्यात्व का न तो प्रारम्भ है अर्थात् अनादि है और न कभी समाप्ति ही होगी (अनन्त) अर्थात् वह काल द्रव्य के समान अनादि अनन्त है। किन्तु भव्य जीव का मिथ्यात्व अनादि होते हुए भी सांत (समाप्ति युक्त) होता है। तथा किन्हीं-किन्हीं भव्य जीवों का तो सान्त ही नहीं सादि भी होता है। (व.चा. ११/१३)

३६. प्रश्न : अविरति किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तरंग में निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुख अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण नहीं करना अविरति है। (वृ.द्र.सं. ३० टी.) व्रतों का पालन न करना, अच्छे कामों में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं। (य.ति.च. ६/१२०)

३७. प्रश्न : अविरति कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अविरति बारह प्रकार की होती है-

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन छह काय के जीवों की विराधना तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन विषयक असंयम इस प्रकार बारह प्रकार की अविरति है। (रा.वा. २९)

अथवा - अविरति पाँच प्रकार की होती है-

हिंसा अविरति (हिंसा से विरत नहीं होना), अनृत (झूठ) अविरति, चौर्य (स्तेय) अविरति, अब्रह्म अविरति और परिग्रह अविरति (वृ.द्र.सं. ३० टी.)

३८. प्रश्न : प्रमाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनासन शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि और वाक्य शुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं तथा शुद्धि लक्षण आठ प्रकार का संयम है। उत्तम क्षमा आदि धर्मों में और संयम में अनुत्साह वा अनादर का भाव होना प्रमाद है। (रा.वा. ३०)

छठे गुणस्थान में व्रतों में संशय उत्पन्न करने वाली जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं यह बन्ध का कारण है। (म.पु. ६२/३०५) अंतरंग में प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभव से डिगने रूप और बाह्य विषय में मूल-गुणों तथा उत्तरगुणों में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है। (वृ. द्र.सं. ३० टी.) चार संज्वलन कषाय एवं नव नोकषाय, इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है। (ध.पु. ७/११) व्रतों में दोष वा मल उत्पन्न करने वाली, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को प्रमाद कहते हैं। (शा.पु. ४/११९) अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव का न होना यह प्रमाद है। कषाय के भार से भारी होने को आलस्य का होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं। (स.सा.आ. कलश. १९०)

३९. प्रश्न : प्रमाद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भाव शुद्धि आदि आठ शुद्धि लक्षण संयम तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों में अनुत्साह होना आदि के भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का होता है। (रा.वा. ३०)

प्रमाद पाँच प्रकार का है-

विकथा, कषाय, इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अथवा - संक्लिष्ट हस्तकर्म,<sup>१</sup> कुशीलानुवृत्ति<sup>२</sup>, बाह्यशास्त्र<sup>३</sup>, काव्यरचना<sup>४</sup> और समिति में उपयोग न देना<sup>५</sup>, ऐसे भी प्रमाद पाँच प्रकार का है। (भ.आ. ६१३ वि.)

चार कषाय, चार विकथा, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं। (गो.जी. ३४)

प्रमाद के सैंतीस हजार पाँच सौ भेद होते हैं-

पच्चीस विकथा, पच्चीस कषाय, पाँच इन्द्रिय एवं मन, पाँच निद्रा एवं मोह तथा प्रणय इनको परस्पर गुणा करने पर सैंतीस हजार पाँच सौ भेद होते हैं। (गो.जी.जी.प्र. ४४)

४०. प्रश्न : पच्चीस विकथाएँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : (१) राज कथा (२) भोजन कथा (३) स्त्री कथा (४) चोर कथा (५) धन कथा (६) बैर कथा (७) परपाखण्ड कथा (८) देश कथा (९) भाषा कथा (१०) गुणबन्ध कथा (११) दैवी कथा (१२) निष्ठुर कथा (१३) पर पैशून्य कथा (१४) कन्दर्प कथा (१५) अनुचित कथा (१६) भंडकथा (१७) मूर्खकथा (१८) आत्मप्रशंसा कथा (१९) परपरिवाद कथा (२०) पर-ग्लानि कथा (२१) परपीड़ा कथा (२२) कलह कथा (२३) परिग्रह कथा (२४) कृषि आदि आरम्भ कथा (२५) संगीत कथा। (गो.जी.जी. ४४)

स्त्री कथा, अर्थ कथा, भोजन कथा, राज कथा, चोर कथा, शत्रु कथा, दूसरे पाखंडियों की कथा, देश कथा, भाषा सम्बन्धी कथा, असंबद्ध प्रलाप (अकहा) विकथा, निष्ठुर कथा, पर पैशून्य कथा, कंदर्पिका कथा, कौत्कुच्य कथा, डंबरिका कथा, मौखरिकी कथा, आत्मप्रशंसा कथा, पर परिवादन कथा, जुगुप्सनता कथा, पर पीड़ा कारक कथा, सावद्यानुमोदिका कथा। (पा.प्र.)

४१. प्रश्न : विकथा आदि प्रमादों का निवारण किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : सत्य और अनुभय रूप वचन विकथा नामक प्रमाद को रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहने से खोटी कथा का अवसर ही नहीं मिलता।

क्षमा, मार्दव, आर्जव कषाय नामक प्रमाद के विरोधी हैं।

ज्ञान की भावना, रागद्वेष के कारण इन्द्रिय विषयों से रहित देश में रहना, ज्ञान के द्वारा मन को

एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष से उत्पन्न हुए दोषों का स्मरण करना और विषयों की उपलब्धि में आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नाम प्रमाद के विरोधी हैं।

निद्रा का विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, संसार से भय, निद्रा के दोषों का चिन्तन, रत्नत्रय में अनुराग, अपने बुरे आचरणों का स्मरण करके शोक करना, आदि।

स्नेह प्रमाद का विरोधी 'बन्धुता अस्थिर है' ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिए अनेक आरम्भ परिग्रह आदि की चिन्ता करनी होती है। धर्म साधन में विघ्न होता है, इत्यादि दोषों का चिन्तन करना। कषाय रूप प्रमाद को उपशम, दया एवं दम से, कषाय के दोषों को जानने से क्रोध आदि में निमित्त वस्तु से बचने से और कषायों के विरोधी क्षमा आदि परिणामों से कषाय को दूर किया जा सकता है ?

**उपशम** - कषाय वेदनीय कर्म के तिरोभाव (उदयाभाव) को उपशम कहते हैं।

**दया** - सब प्राणियों में करुणा होना दया है।

**दम** - कषायों के दोषों का विचार करके चित्त का निग्रह करना दम है। क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को संतोष से जीतना चाहिए। (भ.आ.वि. १८३०-३३)

**४२. प्रश्न : कषाय एवं योग किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** इनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से चार प्रकार की कषायों का उल्लेख इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के "इन्द्रिय कषायाव्रतक्रियाः" (त.सू. ६/५) इस सूत्र में किया है, वही यहाँ जानना चाहिए। योग कायादि का विकल्प है, जिनका वर्णन "कायवाङ्मनः कर्मयोगः" (त.सू. ६/१) सूत्र में कर दिया है। (रा.वा. ४-५)

**४३. प्रश्न : क्या मिथ्यादर्शनादि का वर्णन भी पूर्व में किया है ?**

**उत्तर :** हाँ, मिथ्यादर्शन (त.सू. ६/५) सूत्र में उल्लिखित मिथ्यात्व क्रिया में अन्तर्भूत है, उस विरति की प्रतिपक्षभूत अविरति का वर्णन इसी तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के पाँचवें सूत्र में किया है तथा प्रमाद का अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादन क्रिया और अनाकांक्षा क्रिया (६/५ सू) में हो जाता है। (रा.वा. १-३)

**४४. प्रश्न : ये मिथ्यादर्शनादि सब मिलकर बन्ध के हेतु हैं या पृथक्-पृथक् ?**

**उत्तर :** वाक्य की परिसमाप्ति की विचित्रता होने से ये मिथ्यादर्शनादि समुदाय रूप से भी तथा अवयव (पृथक्-पृथक्) रूप से भी दोनों ही बन्ध के कारण हैं। मिथ्यादर्शनादि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु हैं, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि वाक्य की परिसमाप्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है। (रा.वा. ३१)

४५. प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में बन्ध के कितने-कितने हेतु हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँचों बन्ध के हेतु हैं।

सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार बन्ध के हेतु हैं।

संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व के बिना शेष चार बन्ध के हेतु हैं। (१) अविरत-मिश्र (२) प्रमाद (३) कषाय (४) योग।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमाद आदि तीन बन्ध के हेतु हैं।

अप्रमत्त आदि (७, ८, ९, १०) गुणस्थानों में कषाय और योग दो बन्ध के हेतु हैं।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवली के केवल एक योग बन्ध का हेतु है।

अयोगकेवली के बन्ध का कोई हेतु नहीं है। (रा.वा. ३१)

४६. प्रश्न : मिथ्यादर्शनादि ही बन्ध के हेतु हैं या इनके भेद-प्रभेद भी ?

उत्तर : मिथ्यादर्शनादि के जितने भी भेद-प्रभेद हैं उन सभी भेदों को बन्ध का कारण समझना चाहिए। मिथ्यादर्शनादि के सभी भेद एक आत्मा में एक साथ नहीं हो सकते हैं। एक आत्मा में एक साथ सर्व मिथ्यादर्शनादि और हिंसादि पाँचों पाप एक साथ नहीं हो सकते हैं। (रा.वा. ३१)

४७. प्रश्न : प्रमाद अविरति की पर्याय है अतः इसका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है ?

उत्तर : यह शंका उचित नहीं है क्योंकि विरत के भी विकथा, कषाय आदि प्रमाद स्थान देखे जाते हैं अतः प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। (रा.वा. ३२)

४८. प्रश्न : कषाय और अविरति में क्या अन्तर है ?

उत्तर : हिंसादि अविरति और कषाय में एकता नहीं है क्योंकि इन दोनों में कार्य-कारणत्व है। कषाय कारण है और हिंसादि अविरति कार्य है। अतः कार्य-कारण दृष्टि से कषाय और अविरति पृथक्-पृथक् हैं। (रा.वा. ३३)

४९. प्रश्न : अमूर्त्तिक आत्मा के हाथ-पैर आदि नहीं है तथा पर-पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति का अभाव है तब वह मूर्त्त कर्मों का ग्रहण कैसे कर सकती है ?

उत्तर : 'पहले आत्मा और पश्चात् कर्मबन्ध' इस प्रकार कर्मबन्ध सन्तति के पूर्वापर भाव की अनवधारणा है। हम ऐसा नहीं मानते हैं कि पूर्व में आत्मा निष्कर्म था, पश्चात् कर्मों का बन्ध हुआ है या पूर्व में कर्म बाँधे हैं, पश्चात् आत्मा है। इस प्रकार कर्मबन्ध में सादि व्यवस्था नहीं है। आत्मा में ऐकान्तिक

अमूर्त्तत्व का निराकरण किया है जिससे आत्मा को ऐकान्तिक अमूर्त्त मानने में यह प्रसंग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्मण शरीर से सम्बन्ध होने के कारण गरम लोहे का गोला जैसे पानी को खींचता है उसी प्रकार कषाय सन्तप्त आत्मा कर्मों को ग्रहण करता है। (रा.वा.उ. २)

बन्ध का लक्षण

**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥**

सकषायत्वात्-जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते सः बन्धः ।

(सकषायत्वात्) कषाय से युक्त होने से (जीवः) जीव (कर्मणो योग्यान्) कर्म के योग्य (पुद्गलान्) पुद्गलों को (आदत्ते) ग्रहण करता है। (सः) वह (बन्धः) बन्ध है।

अर्थ - जीव सकषाय होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

१. प्रश्न : सूत्र में पुनः 'कषाय' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : जठराग्नि के समान कर्म विशेष-आशय वाची होने से पुनः कषाय पद का ग्रहण किया है। जैसे- जठराग्नि के अनुसार आहार का पाक होता है उसी प्रकार कषाय होने पर तीव्र, मन्द और मध्यम कषायों के अनुसार कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं। इस तत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए बन्ध के कारणों में निर्दिष्ट भी कषाय का यहाँ पुनः ग्रहण किया है।<sup>१</sup> (रा.वा. १)

२. प्रश्न : सूत्र में 'जीव' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अमूर्त्तिक, बिना हाथ-पैर वाला जीव कर्मों को ग्रहण कैसे करता है इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'जीव' शब्द का ग्रहण किया है क्योंकि जीवन का अर्थ आयु है और आयु सहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, आयु से रहित सिद्ध जीव कर्मों का ग्रहण नहीं करता है अतः जीव वचन का ग्रहण किया गया है। (रा.वा. २-३)

३. प्रश्न : सूत्र में 'कर्मणो योग्यान्' दोनों पृथक्-पृथक् विभक्ति क्यों दी है ?

उत्तर : वाक्यान्तर का ज्ञापन कराने के लिए 'कर्मणो योग्यान्' पृथक्-पृथक् विभक्ति का निर्देश किया है। 'कर्म से जीव सकषाय होता है' यह एक वाक्य है और सकषायी जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह दूसरा वाक्य है। प्रथम में 'कर्मणः' शब्द हेतुवाचक है अर्थात् पूर्व कर्मोदय के कारण जीव सकषाय होता है, क्योंकि अकर्म (कर्म रहित) आत्मा के कषाय का लेप नहीं होता है, अतः जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। द्वितीय वाक्य में 'कर्मणः' शब्द षष्ठी विभक्ति वाला है अर्थात् सकषाय जीव कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है अतः अर्थवश विभक्ति का परिणामन हो जाता है। इसलिए

१. सकषाय के साथ जो पंचमी विभक्ति दी है, वह हेतु रूप में है। अभिप्राय यह है कि तीव्र, मन्द या मध्यम जैसी जैसी कषाय होगी, उसी अनुरूप कर्मों में स्थिति और अनुभाग होंगे।



प्रथम वाक्य में 'कर्मणः' शब्द हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति है। दूसरे वाक्य में 'कर्मणः' यह षष्ठी विभक्ति है। तात्पर्य यह है कि कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।<sup>१</sup> (रा.वा. ४)

४. प्रश्न : सूत्र में 'पुद्गल' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गल शब्द का ग्रहण कर्मों का पुद्गलों के साथ तादात्म्य बताने के लिए किया गया है अर्थात् कर्म पौद्गलिक हैं, यह पुद्गल शब्द से सूचित होता है। (रा.वा. ५)

५. प्रश्न : कर्म तो आत्मा का गुण है, वे पौद्गलिक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : कर्म को आत्मा का गुण मानना उचित नहीं है क्योंकि अमूर्तिक आत्मा का गुण भी अमूर्तिक होगा और अमूर्तिक कर्म उपग्रह (उपकार) और उपघात कर नहीं सकते। जैसे- अमूर्तिक आकाश अमूर्तिक दिशाओं का उपघातक और अनुग्राहक नहीं है, उसी प्रकार अमूर्तिक कर्म भी अमूर्तिक आत्मा के उपघातक और अनुग्राहक नहीं हो सकते। (रा.वा. ६)

६. प्रश्न : सूत्र में 'आदत्ते' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : 'आदत्ते' इस शब्द का ग्रहण प्रतिज्ञा के उपसंहार के लिए है। इस सूत्र में यह प्रतिज्ञा है कि सकषायी जीव बन्ध का अनुभव करता है, उसका उपसंहार करने के लिए यह कहा जाता है कि जीव पुद्गलों को ग्रहण करता है। (रा.वा. ७)

७. प्रश्न : बन्ध किस प्रकार होता है ?

उत्तर : उन पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ उपश्लेष हो जाना ही बन्ध है। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्रीभूत आत्मा में चारों ओर से योग विशेष के कारण सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्त प्रदेशी कर्मयोग्य पुद्गलों के अविभागात्मक उपश्लेष को बन्ध कहते हैं। (रा.वा. ८)

बन्ध का स्वभाव मदिरा परिणाम के समान है, जैसे भाजन विशेष में प्रक्षिप्त विविध प्रकार के रस वाले बीज, पुष्प और फल आदि का मदिरा भाव से परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मा में ही स्थित पुद्गलों का योग और कषायों के कारण कर्म रूप परिणमन हो जाता है। (रा.वा. ९)

८. प्रश्न : मिथ्यादर्शनादि तो बन्ध के कारण हैं, वे बन्ध कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यद्यपि यह सत्य है कि मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण हैं, तथापि नवीन कर्मबन्ध के कारण होनेसे पूर्वोपात्त कर्म के हेतु से कार्यरूपता को प्राप्त होते हुए आत्मा की स्वतन्त्रता का विघात करते

१. कर्मणः इस पद को पंचमी और षष्ठी विभक्ति दोनों रूप मान कर 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणः और 'फिर कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' इस तरह योगविभाग कर लेने से ऐसा अर्थ हो जाता है कि कर्म के निमित्त से यह जीव कषाययुक्त होता है एवं अपने आप में उसे स्थान देता है। उसी का नाम बन्ध है। यदि ऐसा अभिप्राय न होता तो 'कर्मयोग्यान्' ऐसा और भी अधिक सुन्दर और संक्षिप्त पद बन जाता।

हैं। अतः कार्य रूप से मिथ्यादर्शनादि परिणाम आत्मा को परतन्त्र करने के कारण कहे जाते हैं। आत्मा के द्वारा पुद्गल आत्मसात् किये जाते हैं अतः कर्मसाधन भी बन्ध शब्द है। ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र, अनन्तरायादि पुरुष की शक्तियों का जो प्रतिबन्ध करता है वह बन्ध है यह कर्तृसाधन भी बन जाता है। (रा.वा. ११)

९. प्रश्न : सूत्र में 'सः' शब्द का प्रयोग क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'सः' शब्द अन्य की निवृत्ति के लिए है "यही बन्ध है अन्य नहीं" इस प्रकार अन्य की निवृत्ति के लिए वा 'यही बन्ध है, अन्य नहीं" यह सूचना देने के लिए 'सः' शब्द का सूत्र में ग्रहण किया है। सूत्र में 'सः' शब्द देने से गुण-गुणी के बन्ध की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि यदि गुण-गुणी के बन्ध को बन्ध मान लेंगे तो मुक्ति का अभाव हो जायेगा, क्योंकि गुणी कभी अपने गुण स्वभाव को छोड़ दे तो गुणी का ही अभाव हो जायेगा और गुणी का अभाव हो जाने से मुक्ति का भी अभाव हो जायेगा। (रा.वा. १०)

१०. प्रश्न : कर्मों का उपचय-अपचय कैसे होता है ?

उत्तर : धान्य के कोठे के समान कर्मों का अव्यय दृष्टिगोचर होने से उसके उपचय (संग्रह), अपचय (व्यय) का सद्भाव पाया जाता है। जैसे- भण्डार से पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं और नवीन भर दिये जाते हैं अतः उसमें उपचय और अपचय देखा जाता है, उसी प्रकार अनादि कार्माण शरीर रूप कोष्ठागार में पुरातन कर्म फल देकर झड़ जाते हैं तथा कषाय और योग के कारण नवीन कर्म आकर बँध जाते हैं, इस प्रकार कर्मों का आना-जाना होता है। (रा.वा. १२)

११. प्रश्न : कषाय सहितपने से ही जीव के कर्मबन्ध होता है, यह किस प्रमाण से सिद्ध है?

उत्तर : कषाय सहितपने से यदि बन्ध की व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तो मुक्तात्मा के समान इस संसारी जीव के बन्ध का अभाव हो जायेगा। परन्तु मुक्तात्मा के समान संसारी जीव बन्धरहित नहीं है। इस प्रकार अनुमान से सिद्ध है। सकषायपना हेतु तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। जबकि 'मैं क्रोधी हूँ' 'मैं लोभी हूँ' इत्यादि स्वरूप वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से शरीरधारी जीवों के कषाय सहितपने की स्वयं सिद्धि हो जाती है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सकषायी जीव के कर्म बन्ध होना सिद्ध होता है। (श्लो. ७/२३)

बन्ध के भेद

**प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥**

प्रकृति-स्थिति-अनुभव-प्रदेशाः-तत् विधयः।

(प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाः) प्रकृति, स्थिति, अनुभव तथा प्रदेश (तद्विधयः) उस बन्ध के भेद हैं।

अर्थ - प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश ये बन्ध के भेद हैं।

प्रकृति बन्ध - प्रकृति का अर्थ स्वभाव है।

**स्थिति बन्ध** - अवस्थान। कर्म का अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

**अनुभव बन्ध** - कर्मों के रस (फलदान शक्ति) विशेष को अनुभव बन्ध कहते हैं।

**प्रदेश बन्ध** - इयत्ता (संख्या) के अवधारण को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र क्यों लिखा गया है ?

उत्तर : पूर्व सूत्र में सामान्य रूप से जो बन्ध प्रतिपादित किया है उसके भेद-प्रभेद कौन-कौन से हैं ? इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा होने पर उस बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र लिखा है। (श्लो. ७/२६)

२. प्रश्न : प्रकृतिबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची शब्द हैं। जैसे- नीम की प्रकृति क्या है ? नीम का स्वभाव तिक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति अर्थज्ञान नहीं होने देना आदि कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे किये जाते हैं, वह प्रकृति बन्ध है और अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है। (रा.वा. ४)

जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है ? यह प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति है। जो कर्म स्कन्ध वर्तमान काल में फल देता है और जो भविष्यत् में फल देगा, इन दोनों ही कर्मस्कन्धों की प्रकृतिसंज्ञा सिद्ध है। (ध. पु. १२/३०३) ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों का उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्य का स्वआकार है वह प्रकृति बन्ध है। (नि.सा.टी. ४०)

३. प्रश्न : दर्शनावरणादि कर्मों की प्रकृति क्या है ?

उत्तर : दर्शनावरणीय की प्रकृति अर्थ (पदार्थ) का दर्शन नहीं करने देना, वेदनीय का स्वभाव सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होने देना, चारित्र मोहनीय की प्रकृति असंयम परिणाम, आयु का स्वभाव भवधारण, नाम कर्म की प्रकृति नारक आदि नाम व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव ऊँच-नीच का व्यवहार कराना और अन्तराय कर्म का स्वभाव दान आदि में विघ्न करना है। (रा.वा. ४)

४. प्रश्न : प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर : प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है अतः उसकी कषाय से उत्पत्ति होने में विरोध आता है। भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों में एकरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि इसका निषेध है। दूसरे, अनुभाग की वृद्धि प्रकृति की वृद्धि में निमित्त होती है। क्योंकि उसके महान् होने पर प्रकृति के कार्य रूप अज्ञानादिक की वृद्धि देखी जाती है। इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, ऐसा जानना चाहिए। (ध. पु. १२/९१-९२)

५. प्रश्न : स्थितिबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृति का अपने अर्थ का ज्ञान नहीं होना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति बन्ध है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने मधुरता स्वभाव से च्युत न होना उसकी स्थिति है। (रा.वा. ५)

उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्य के भेदों रूप बढ़ती-घटती कर्मों की स्थिति कही गई है, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। (ज्ञा. ६/४८)

योग के वश से कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति बन्ध कहते हैं। (ध. पु. ६/१४६)

६. प्रश्न : अनुभाग बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के रसविशेष को अनुभाग बन्ध कहते हैं। जैसे-बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र-मन्द आदि भाव से रसविशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है। उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग बन्ध कहते हैं। (रा.वा. ६)

आठों कर्मों एवं जीव प्रदेशों के परस्पर में अन्वय के कारणभूत परिणाम को अनुभाग कहते हैं। (ध. १२।९१) ज्ञानावरण आदि कर्मों का परिणामों से होने वाला जो रस है वह अनुभाग बन्ध है। क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की तीव्रता आदि परिणामों से उत्पन्न होने वाला सुखदायक और दुःखदायक अनुभव अनुभाग बंध कहलाता है। जैसे बकरी, गाय, भैंस, आदि के दूध में तीव्र, मन्द भाव से रस (माधुर्य) विशेष होता है वैसे ही कर्म पुद्गलों में तीव्र आदि भाव से जो शुभ और अशुभ अपने में होने वाली सामर्थ्य विशेष है वह अनुभाग बन्ध है। (मू. १२४६)

शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बन्ध है। (नि.सा.टी. ४०)

७. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय कर्म भगवान के मुख पर ढके हुए वस्त्र के समान ज्ञान नहीं होने देता है, दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान राजा के सामान्य अवलोकन को रोकता है, वेदनीय कर्म शहद लपेटी तलवार के समान सुख-दुःख देता है, मोहनीय कर्म मदिरा के समान भुलावे में डालता है, आयु कर्म खोड़े के समान किसी भव में रोके रखता है, नाम कर्म चित्रकार के समान नाना प्रकार के शरीरादि रचता है, गोत्र कर्म कुम्भकार के समान उच्च नीच कुल में उत्पन्न करता है तथा अन्तराय कर्म भण्डारी के समान दानादि कार्यों में विघ्न डालता है। (गो.क.गा. २०)

८. प्रश्न : प्रदेश बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा के कर्म रूप परिणत पुद्गलों, स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण से कल्पित परिच्छेदों खण्डों की जो संख्या है वह प्रदेश बन्ध कहलाता है। (हरि. पु. ५८/२१३) जो जीव और कर्म इन दोनों के प्रदेशों का परस्पर अनुप्रवेश कहिये एकक्षेत्रावगाह होने से सम्बन्ध होता है, उसे बन्धरहित सर्वज्ञदेव ने प्रदेशबन्ध कहा है। (ज्ञा. ६/४९)

एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्त एक भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का स्वरूप है। (वृ.द्र.सं. ३३ टी.)

९. प्रश्न : कौन-कौनसा बन्ध किन-किन कारणों से होता है ?

उत्तर : मन, वचन आदि योग के निमित्त से प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय की तारतम्यता से नाना प्रकार का स्थिति बन्ध एवं अनुभाग बन्ध होता है। (रा.वा. ९-१०)

१०. प्रश्न : कर्मबन्ध के विषय में कितने प्रश्न उठते हैं ?

उत्तर : साम्प्रायिक आस्रव से जो कर्म बँधते हैं उसके विषय में चार प्रश्न उठते हैं- (१) बँधे हुए कर्म का स्वभाव क्या है। (२) बँधे हुए कर्मों की स्थिति कितनी है अर्थात् उनका कर्म रूप से कितने काल तक अवस्थान रहेगा ? (३) बँधे हुए कर्म अपने स्वभाव के अनुसार न्यूनाधिक कितना काम करेंगे ? (४) कर्म रूप से पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की गणना कितनी है? (सूत्र. के आधार से)

११. प्रश्न : इन प्रकृति आदि बन्धों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : बन्ध के भेद से, इस प्रकार ही बन्ध भिन्न-भिन्न हो रहा है, इन चार प्रकारों को अन्य प्रकारों से बन्ध के भेद नहीं हैं। आत्मा के साथ बँधने योग्य कर्म ही प्रकृति अवस्था में रहते हुए प्रकृति बन्ध नाम को प्राप्त करते हैं। वे ही कर्म आत्मा के प्रदेशों पर वर्तन करते हुए प्रदेशबन्ध नाम को प्राप्त करते हैं, वे ही कर्म एक समय आगे की स्थिति परिणति से आक्रान्त हो जाते हैं तब स्थिति बन्ध नाम पाते हैं तथा वे ही कर्म आत्मा के फल देने की प्रकर्ष शक्ति स्वरूप अनुभव पर्याय से युक्त हो जाते हैं तब अनुभव बन्ध व्यपदेश को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुन्दर रूप से बन्ध की प्रकृतिबन्ध आदि विधियों को कहा है। (श्लो. ७/२९)

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

आद्यः ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयुः नाम-गोत्र-अन्तरायाः ।

(आद्यः) प्रथम मूल प्रकृति (ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं।

**अर्थ** - प्रथम मूल प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं।

**ज्ञानावरणीय** - जो ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरण कर्म है।

**दर्शनावरणीय** - आत्म विषयक उपयोग दर्शन है। उस दर्शन गुण का जो आवरण करता है वह दर्शनावरणीय कर्म है।

**वेदनीय** - जो अनुभव किया जाता है वह वेदनीय कर्म है।

**मोहनीय** - जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है।

**आयु** - जिसके उदय से जीव नरकादि पर्यायों को प्राप्त करता है वह आयु कर्म है।

**नाम** - जो नाना प्रकार की रचना निर्वृत्ति करता है वह नाम कर्म है।

**गोत्र** - जो उच्च और नीच कुल में ले जाता है वह गोत्र कर्म है।

**अन्तराय** - जो दो पदार्थों के अन्तर (मध्य) में आता है वह अन्तराय कर्म है।

**१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है ?**

**उत्तर :** प्रकृति बन्ध कितने प्रकार का होता है ? प्रकृति बन्ध दो प्रकार का है- मूल प्रकृति बन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध। उसमें से मूल प्रकृति बन्ध कौन-कौन से हैं, इस प्रश्न के उत्तर में यह सूत्र लिखा गया है। (रा.वा.उ. ४)

**२. प्रश्न : कर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जो जीव को परतन्त्र करते हैं, अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं- उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। (आप्त प.टी. ११५)

जो लोक की अनेकरूपता के मूल रूप से हेतु हैं उन्हें कर्म कहते हैं। विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत, कर्म और ईश्वर ये कर्म के ही पर्यायवाचक नाम हैं। मधुर एवं कटु फल प्रदाता होने से इन्हें द्विविध (पुण्य-पाप) रूप भी कहा गया है तथा यह भी बताया गया है कि अपने कर्मों के अनुसार जीव को उसके शुभाशुभ फल भोगने पड़ते हैं। ये तब तक जीव के साथ रहते हैं जब तक उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सद्भाव रहता है। इन कर्मों की निर्जरा का साधन तप है। ध्यानाग्नि से इनके भस्मीभूत होने पर परमपद की प्राप्ति होती है।

**३. प्रश्न : कर्मबन्ध कितने प्रकार का होता है ?**

**उत्तर :** कर्मबन्ध सामान्य से एक प्रकार का है।

कर्मबन्ध दो प्रकार का है- पुण्य-पाप।

कर्मबन्ध तीन प्रकार का है- अनादि सान्त, अनादि-अनन्त, सादि-सान्त अथवा भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित।

कर्मबन्ध चार प्रकार का है- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।

बन्ध पाँच प्रकार का है- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

बन्ध षट् प्रकार का है- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, त्रस कायिक।

बन्ध सात प्रकार का है- राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ।

बन्ध आठ प्रकार का है- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रूप।

इस प्रकार शब्द की अपेक्षा संख्यात विकल्प वाला है क्योंकि कर्म शब्द के वाचक शब्द संख्यात ही हैं।

बन्ध अध्यवसायस्थान विकल्प की अपेक्षा असंख्यात विकल्प वाला है।

बन्ध अनन्तानन्तप्रदेश स्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा अनन्त विकल्पवाला है तथा ज्ञानावरणादि अनुभाग के अविभाग परिच्छेद की अपेक्षा भी अनन्त विकल्प वाला होता है। (रा.वा. १५)

सामान्य की अपेक्षा कर्म एक प्रकार का है।

भेद की अपेक्षा कर्म दो प्रकार का है - (१) द्रव्य कर्म (२) भाव कर्म।

कर्म मूल प्रकृति की अपेक्षा आठ प्रकार का है - ज्ञानावरणादि।

कर्म उत्तर प्रकृति की अपेक्षा एक सौ अड़तालीस प्रकार का है।

बन्ध के कारणभूत कषायाध्यवसाय स्थानों की अपेक्षा असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं उतने भेद रूप भी है। (क.प्र. ६-७) भ्रमर, मधुकर, शलभ, पतंग, इन्द्रगोप, शंख, मत्कुण, निंब, आम, जम्बु, जम्बीर और कदम्ब आदिक रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं उतने ही कर्म भी हैं। (ध.७/७०-७१)

४. प्रश्न : ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। जो ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरण है। (रा.वा. २)

बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है, ऐसा जानना चाहिए। (ध. पु. १/३८३) ज्ञानस्वरूप जीव के ज्ञान को रोकने वाला ज्ञानावरणीय प्रथम कर्म है। (व.चा. ४/३) प्रवाह रूप से अनादि बन्धन बद्ध ज्ञान का आवरण करने वाला पुद्गल स्कन्ध ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। (ध. ६/९)

ज्ञान, अवबोध, अवगम और परिच्छेद ये सब एकार्थवाची नाम हैं, उस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। (ध. पु. ६/६)

सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेदनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत 'ज्ञान' शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे सो ज्ञानावरण है। (वृ.द्र. सं. ३१ टी.) जिस प्रकार प्रतिमा के ऊपर पड़ा हुआ कपड़ा प्रतिमा का आच्छादक होता है, उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को ढकता है। (क.प्र. २८)

५. प्रश्न : दर्शनावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिहार की तरह जो आत्मा के सामान्य ग्रहण रूप दर्शनगुण को रोकता है वह दर्शनावरणीय है। (क.प्र. २७) पदार्थों के साक्षात्कार का बाधक दर्शनावरणीय दूसरा कर्म है। (व.चा. ४/३) अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। (ध.१/३८३) जो दर्शन गुण को आवरण करता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। जो पुद्गल स्कन्ध जीव के साथ समवाय सम्बन्ध को प्राप्त है और दर्शन-गुण का प्रतिबन्धक है वह दर्शनावरणीय कर्म है। (ध. पु. ६-१०)

आत्म विषयक उपयोग को दर्शन कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन गुण को जो आवरण करता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है। (ध. ६/९-१०)

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के साथ एक रूप से परिणत और जीव के साथ समन्वित दर्शन गुण को जो रोकने वाला है वह दर्शनावरण है ऐसा समझना चाहिए। (मू. १२३१ आ.) जो दर्शन को आवृत करता है वह दर्शनावरणीय है। जैसे- राजद्वार पर बैठा द्वारपाल राजा को नहीं देखने देता, उसी प्रकार दर्शनावरण दर्शन गुण को आच्छादित करता है। (गो. क. जी. २०)

६. प्रश्न : वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। (सर्वा. ७३८) जीव के सुख और दुःख के अनुभवन का कारण, मिथ्यात्व आदि के प्रत्ययों के वश से कर्म रूप पर्याय से परिणत और जीव के साथ समवाय सम्बन्ध को प्राप्त पुद्गल स्कन्ध वेदनीय के नाम से कहा जाता है। (ध. ६/१०)

शहद लपेटी तलवार की धार के समान जो सुख अथवा दुःख को इन्द्रियों द्वारा अनुभव कराये वह वेदनीय कर्म है। (क.प्र. १४-२७)

जीव के सुख और दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है। (ध. १५/६) सुख-दुःख में साता और असाता के अनुभव का द्योतक वेदनीय कर्म है। (व.चा. ४/३)

सुख-दुःख के अनुभव करने में निमित्तभूत, पुद्गलस्कन्धों के समूहरूप तथा मिथ्यात्व आदि प्रत्यय के निमित्त से कर्म पर्याय से परिणत हुआ जीव उनसे समन्वित होने से वेदनीय है। (मू. १२३२ आ.)



७. प्रश्न : मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है। (सर्वा. ७३८) जो मोहन करता है वा जिसके द्वारा मोह कराया जाता है, वह मोहनीय है वा जो मोहित करता है वा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है। (रा.वा.२) जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और धार्मिक कार्यों में विकल करता है वह मोहनीय कर्म है। (म.पु.) जीव के स्वभाव को अन्यथा करने वाला मोहनीय चौथा कर्म है। (व.चा. ४/३)

८. प्रश्न : जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है ऐसी व्युत्पत्ति करने पर तो मदिरा, धूतरा, भार्या आदि के मोहनीयता का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर मोहनीय नामक द्रव्य कर्म का अधिकार है अतः कर्म के अधिकार में धतूरा, मदिरा, स्त्री आदि की सम्भावना नहीं है। (ध.पु. ६/११)

९. प्रश्न : मोह और ज्ञानावरण कर्म में कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि दोनों के उदय में ही आत्मा हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है ?

उत्तर : मोह और ज्ञानावरण कर्म में अर्थान्तर भाव है अतः दोनों एक नहीं है। क्योंकि पदार्थ का यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सदभूत अर्थ का अश्रद्धान मोह है, पर ज्ञानावरण से ज्ञान तथा सदभूत या अन्यथा असदभूत ग्रहण ही नहीं करता है। जैसे- अङ्कुर रूप कार्य के भेद से कारणभूत बीजों में भिन्नता देखी जाती है उसी प्रकार अज्ञान और चारित्रमोह, दर्शनमोहादि कार्यान्तर के दृष्टिगोचर होने से उनके कारणभूत ज्ञानावरण और मोह में भेद होना ही चाहिए। (रा.वा. ४-५)

१०. प्रश्न : आयु कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आठ कर्मों में यह पाँचवाँ कर्म है। यह सुदृढ़ बेड़ी के समान जीव को किसी एक पर्याय में रोके रहता है। (हरि.पु. ३/१७) यह जीवों को मनचाहे स्थान पर नहीं जाने देता। यह दुःख शोक आदि अशुभ वेदनाओं की खान है।

कर्मों के उदय से उत्पन्न मोह, अज्ञान, असंयम और मिथ्यात्व भाव से वृद्धि को प्राप्त इस अनादिकालीन संसार में जो मनुष्य को हलि या खोड़े के समान जीव को रोक रखे उसे आयु कर्म कहते हैं। (क.प्र. ११) जो भव धारण के प्रति जाता है वह आयु कर्म है। जो पुद्गल मिथ्यात्व आदि बंध कारणों के द्वारा नर-नारकादि भव धारण करने की शक्ति से परिणत होकर जीव में निविष्ट होते हैं, वे आयु इस संज्ञा वाले होते हैं। (ध. ६/१२)

आयु कर्म का उदय कर्म के द्वारा किये गये और अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्व के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए अनादि संसार की चार गतियों में जीव को उसी प्रकार रोके रहता है जैसे एक विशेष प्रकार का काष्ठ अपने छिद्र में पैर डालने वाले व्यक्ति को रोके रहता है। (गो.क.जी. ११)

११. प्रश्न : नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाम संज्ञा वाला कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी अथवा देव रूप करता है। (प्र.सा. ११७)

जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नाम कर्म है। (सर्वा. ७३८) जो नाना प्रकार की रचना, निर्वृत्ति करता है, वह नाम कर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं, वे नाम इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है। (ध. ६/१३) पशु-पक्षी आदि के अलग-अलग शरीरों का निर्माता छठा कर्म नाम है। (व.चा. ४/४) चित्रकार की तरह जो आत्मा को नाना योनियों में नरकादि पर्यायों द्वारा नमाता है अर्थात् ले जाता है वह नामकर्म है। (क.प्र. सर्वा.)

१२. प्रश्न : गोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके द्वारा जीव उच्च-नीच गूयते शब्दयते (कहा जाता) है वह गोत्र कर्म है। (सर्वा. ७३८) जो उच्च और नीच कुल को ले जाता है वह गोत्र कर्म है। मिथ्यात्व आदि बन्ध कारणों के द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त एवं उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराने वाला पुद्गल स्कन्ध 'गोत्र' इस नाम से कहा जाता है। (ध. पु. ६/१३)

गोत्र, कुल, वंश और संतान ये सब एकार्थवाची हैं। (ध.पु. ६/७७-७८)

जो उच्च-नीच का ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है। (ध. १३/३८७)

सन्तान क्रम से चला आया जो जीव आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है। (गो.क. १३)

उच्च-नीच विभागों का कारण सातवाँ गोत्र कर्म है। (व.चा. ४/४)

शक्ति की अपेक्षा समान एक ही योनि के जीवों के भी उच्च और नीच वर्गों का विभाजक गोत्र कर्म है। (व.चा. ४/४७)

१३. प्रश्न : अन्तराय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : दाता-पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं। अथवा जिसके रहने पर दाता आदि दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दान आदि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावे, वह अन्तराय कर्म है। (रा.वा. २)

जो इष्ट पदार्थों की प्राप्ति में विघ्नकारी होता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। (हरि.पु. ३/९८) ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, भोग आदि की प्राप्ति का प्रधान बाधक अन्तिम कर्म अन्तराय है। (व.चा. ४/५)

१४. प्रश्न : सूत्र में 'आद्यः' एकवचन एवं 'गोत्रान्तरायाः' बहुवचन का ग्रहण क्यों किया है?

उत्तर : सूत्र की आदि में द्रव्यार्थिक नय से 'आद्यः' एक वचन कहा है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से एक ही प्रकृति बन्ध है एवं पर्यायार्थिक नय से सूत्र के अन्त में '.... गोत्रान्तरायाः' बहुवचन दिया है क्योंकि ज्ञान, दर्शन आदि विशेष की अपेक्षा प्रकृतिबन्ध अनेक प्रकार का है। (रा.वा. १)

१५. प्रश्न : एक ही बन्ध अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है ?

उत्तर : जिस प्रकार खाये हुए भोजन का अनेक विकार में समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल, रस, आदि रूप से परिणमन हो जाता है, उसी प्रकार बिना किसी प्रयोग के कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, भवधारण, नाना जाति, नाम, गोत्र और व्यवच्छेदकरण समर्थ (अन्तराय) आदि शक्तियों से युक्त होकर आत्मा से बँध जाते हैं, सन्निधान को प्राप्त हो जाते हैं। (रा.वा. ३)

जैसे- आकाश से सामान्य रूप से गिरा हुआ मेघ का जल पात्रविशेष में पड़ कर विभिन्न रस रूप परिणमन कर जाता है, उसी प्रकार ज्ञानशक्ति का उपरोध करने से ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्ति भेद से मति आवरण-श्रुतावरण आदि भेद रूप से परिणमन करता है। (रा.वा. ७)

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययों के आश्रय से उत्पन्न हुई आठ शक्तियों से संयुक्त जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गल स्कन्धों का आठ कर्मों के आकार से परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है। (ध.पु. १२)

१६. प्रश्न : एक ही पुद्गल में अनेक कार्य करने की शक्ति कैसे हो सकती है क्योंकि एक के अनेक रूप होने में विरोध है।

उत्तर : ऐसा ही स्वभाव है जैसे-एक ही अग्नि में दाह, पाक, प्रताप और प्रकाश का सामर्थ्य विरुद्ध नहीं है, उसी प्रकार एक ही पुद्गल में आवरण, सुख-दुःख आदि में निमित्त होने की शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

एक और अनेक लक्षण वाले द्रव्य के कथञ्चित् एकपना है और कथञ्चित् अनेकपना है, जैसे द्रव्यदृष्टि से पुद्गल कथञ्चित् एक है और अनेक परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष बन्ध से होने वाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायों की दृष्टि से अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार भिन्नजातीय पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु से निष्पन्न भिन्नजातीय इन्द्रियों का एक ही दूध या घृत उपयोग करने पर उपकारक होता है ऐसा देखा जाता है उसी प्रकार भिन्न जातीय द्रव्यों का परस्पर उपकार होता है।

जैसे- इन्द्रियाँ भिन्न हैं वैसे ही उनमें होने वाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे- पृथिवीजातीय दूध से तेजो जातीय चक्षु का उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्म से भी चेतन आत्मा का अनुग्रह आदि हो सकता है अतः भिन्नजातीय द्रव्यों में परस्पर उपकार मानने में कोई विरोध नहीं है। (रा.वा. १०-१४)

१७. प्रश्न : सूत्र में सर्वप्रथम ज्ञानावरण कर्म का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : ज्ञान से आत्मा का अधिगम होता है, अतः स्वाधिगम का निमित्त होने से वह प्रधान है

अतः आत्मा के प्रधान गुण ज्ञान का आवरक होने से सूत्र में सर्वप्रथम ज्ञानावरण कर्म का ग्रहण किया है। (रा.वा. १६)

व्याकरण का नियम है कि जिसमें अल्पाक्षर हो उसे पहले रखा जाता है। इसी कारण अल्पाक्षर वाला एवं पूज्य (प्रधान) गुण का आवरक होने से ज्ञानावरण का सर्व प्रथम ग्रहण किया है। (गो.क. १६)

**१८. प्रश्न : ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण का ग्रहण क्यों किया है ?**

**उत्तर :** अनाकार की उपलब्धि होने से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण को कहा है क्योंकि साकार उपयोग रूप ज्ञान से अनाकार उपयोग रूप दर्शन अपकृष्ट है। अनभिव्यक्त का ग्रहण करने वाला होने से परन्तु उपलब्धि रूप होने से वेदनीय आदि की अपेक्षा प्रकृष्ट है अतः ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण का ग्रहण किया है। (रा.वा. १७)

**१९. प्रश्न : वेदनीय आदि कर्मों के क्रम का क्या प्रयोजन है ?**

**उत्तर :** ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के बाद वेदनीय का ग्रहण किया है क्योंकि वेदना ज्ञान-दर्शन की अव्यभिचारिणी है, ज्ञान-दर्शन रहित घटादि रूप विपक्ष में वेदना नहीं पाई जाती है।

ज्ञान-दर्शन आदि का विरोधी होने से वेदनीय के बाद मोह कर्म का ग्रहण किया गया है। क्योंकि मोही प्राणी न देखता है न जानता है और न सुख-दुःख का अनुभव करता है।

आयु निमित्तक सुख-दुःख होने से मोहनीय के समीप आयु का उल्लेख किया है। आयुर्कर्म के उदय के अनुसार ही प्रायः गति आदि नाम कर्म का उदय होता है अतः आयु के अनन्तर नाम कर्म का उल्लेख किया गया है। (रा.वा. १८-२१)

आयु कर्म के बल से जीव का विवक्षित भव या चतुर्गति रूप संसार में अवस्थान होता है इसलिए आयु कर्म के निर्देश के पश्चात् नाम कर्म का निर्देश किया है। (क.प्र. १९) शरीर आदि को प्राप्त जीव के ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है अतः नाम के बाद गोत्र का ग्रहण किया है तथा परिशेष न्याय से अन्त में अन्तराय कर्म का ग्रहण किया है। (रा.वा. २२)

वीर्य शक्ति रूप है। वह जीव में (ज्ञानादिक शक्ति) तथा अजीव में (शरीरादि शक्ति रूप में) पाया जाता है उस वीर्य का आवरक होने से अन्त में अन्तराय कर्म को कहा है। (गो.क. १६)

**२०. प्रश्न : यदि मोही जीव के ज्ञान-दर्शन-सुख आदि नहीं पाये जाते हैं तो मिथ्यादृष्टि से असंयत पर्यन्त जीवों के सुख-दुःख आदि नहीं होने चाहिए ?**

**उत्तर :** यहाँ क्वचित् विरोध देखा जाता है, सर्वत्र नहीं। क्योंकि यद्यपि मोही जीवों के भी ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि देखे जाते हैं फिर भी प्रायः मोहाभिभूत प्राणियों को हिताहित का विवेक आदि नहीं रहता है अतः मोह का ज्ञानादि से विरोध कह दिया गया है। (रा.वा. १९)

२१. प्रश्न : द्रव्य कर्म एवं भावकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यकर्म - ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड को द्रव्य-कर्म कहते हैं। (क.प्र.६) जीव के जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं। (आप्त. प.टी. ११३) भावकर्म- उस द्रव्य कर्म रूप पिण्ड में फल देने की जो शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं। अथवा - उस शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को भी भावकर्म कहते हैं। (क.प्र. ६)

जो भावकर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न रूप से स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं। (आप्त.प.टी ११४)

प्रकृति बन्ध

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च भेदा यथाक्रमम् ॥५॥

पञ्च-नव-द्वि-अष्टाविंशति-चतुः-द्विचत्वारिंशत् द्वि-पञ्च भेदाः यथाक्रमम् ।

अर्थ - पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच, ये क्रमशः ज्ञानावरणादि कर्मों के उत्तर भेद हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : मूल प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है, उनका तो वर्णन कर दिया गया है। अब उत्तर प्रकृति-बन्ध कितने प्रकार का है ? ऐसी पृच्छा होने पर आचार्य महाराज ने उत्तर प्रकृतियों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। (रा.वा. उ. ५)

२. प्रश्न : कर्म के मूल एवं उत्तर भेद क्यों किये गये हैं ?

उत्तर : मेधावी जीवों के अनुग्रहार्थ संग्रह नय का अवलम्बन लेकर कर्म प्रकृति के आठ मूल भेद किये हैं तथा मन्दबुद्धि जनों का अनुग्रह करने के लिए व्यवहार नय रूप पर्याय से परिणत उत्तर भेद कहे गये हैं।

३. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि पाँच आदि प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद हैं ?

उत्तर : पूर्व सूत्र (चौथे) में 'आद्य' पद दिया है अतः द्वितीय शब्द के बिना कहे भी इस सूत्र में परिशेष न्याय से उत्तर प्रकृति बन्ध का बोध हो ही जाता है। (रा.वा. २)

४. प्रश्न : सूत्र में 'यथाक्रमं' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : यथानुपूर्वी को यथाक्रम कहते हैं अतः इस सूत्र में दिये गये 'यथाक्रमं' पद के आधार से सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए-

ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद, दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद, वेदनीय कर्म के दो भेद, मोहनीय

कर्म के अट्ठाईस भेद, आयु कर्म के चार भेद, नाम कर्म के बयालीस भेद, गोत्र कर्म के दो भेद तथा अन्तराय कर्म के पाँच भेद होते हैं। (सर्वा. ७४०)

५. प्रश्न : कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

उत्तर : “कार्यानुमेयानि कारणानि भवन्ति” ज्ञान का आवरण आदि कार्य विशेषों से ज्ञानावरणादि उत्तर प्रकृतियों का अनुमान कर लिया जाता है। अवधिज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी तथा केवलज्ञानी के मूल और उत्तर प्रकृतियों का प्रत्यक्ष प्रमाण से और मति-श्रुतज्ञानी जीवों के उन कर्मों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि हो जाती है। अथवा

आत्मा में उपादान हेतु ज्ञान के होते हुए और काल, आकाश, पुस्तक आदि निमित्त कारणों के समान रूप से रहते हुए तथा योग्य देश में स्थित अवलम्बन कारण विषय के होते हुए आहार, परोपदेश, अभ्यास, सहपाठियों के साथ परामर्श करना आदि उपयोगी कारणों के मिल जाने पर भी किसी पुरुष के मति-श्रुतादि ज्ञानों की विशेष व्युत्पत्तियों का अभाव देखा जाता है, किसी के ज्ञान की वृद्धि देखी जाती है। अतः अनुमान द्वारा निर्णय किया जाता है कि इन बाह्य कारणों से भिन्न कोई अदृष्ट कारण कर्म और कर्म का क्षयोपशम अवश्य भिन्न-भिन्न है अर्थात् उनका अनुमान हो जाता है। (श्लो. ७/४८-४९)

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

**मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम् ॥६॥**

मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ।

अर्थ - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

मति ज्ञानावरण - जो मतिज्ञान का आवरण करता है वह मतिज्ञानावरण है।

श्रुतज्ञानावरण - श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण है।

अवधिज्ञानावरण - अवधिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म अवधिज्ञानावरण है।

मनःपर्ययज्ञानावरण - मनःपर्ययज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मनःपर्ययज्ञानावरण है।

केवलज्ञानावरण - केवलज्ञान का आवरण करने वाला कर्म केवलज्ञानावरण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : वहाँ उत्तर प्रकृतियों के द्वारा आवरण किये जा रहे कौन-कौन से पाँच ज्ञान हैं जिन का ज्ञानावरण कर्म के द्वारा आवरण होता है इस प्रकार प्रश्न उठने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र लिखा गया है। (श्लो. ७/४२)

२. प्रश्न : ज्ञानावरण के स्थान पर ‘ज्ञानविनाशक’ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

**उत्तर :** ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जीव के लक्षण स्वरूप ज्ञान और दर्शन का विनाश नहीं होता है। यदि ज्ञान और दर्शन का विनाश माना जायेगा तो जीव का ही विनाश हो जायेगा। क्योंकि लक्षण से रहित लक्ष्य पाया नहीं जाता है। ज्ञान का विनाश नहीं मानने पर यदि सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्व प्राप्त होता है तो भी कोई विरोध नहीं है अथवा “अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है।” इस सूत्र के अनुकूल होने से सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है। (ध. ६/६-७)

**३. प्रश्न :** ज्ञानावरण कर्म की कितनी प्रकृतियाँ होती हैं?

**उत्तर :** ज्ञानावरण कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं- (१) अभिनिबोधक ज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञानावरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनः पर्ययज्ञानावरणीय (५) केवलज्ञानावरणीय (ध. १३/२०९)

ज्ञानावरण कर्म की असंख्यात प्रकृतियाँ हैं क्योंकि आवरण के योग्य ज्ञान के असंख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते हैं। (ध. १२/४७९)

**४. प्रश्न :** मतिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** मतिज्ञानावरण कर्म स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध आदि को रोक देता है। अवग्रह मतिज्ञानावरणीय कर्म पदार्थ के साधारण ज्ञान को भी रोक देता है। अर्थ की विशेषताओं की जिज्ञासा मात्र का मूलोच्छेद करना ईहा मतिज्ञानावरणीय का काम है। विषय के निर्णयात्मक ज्ञान में अवाय मतिज्ञानावरणीय ही बाधक होता है।

धारणा मतिज्ञानावरणीय कर्म उक्त प्रकार से जाने हुए भी पदार्थ ज्ञान के दृढ़ संस्कार को नहीं होने देता है। (व.चा. ४/११)

**५. प्रश्न :** मतिज्ञानावरण कर्म के कितने भेद हैं ?

**उत्तर :** आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म के चार भेद, चौबीस भेद, अट्ठाईस भेद, बत्तीस भेद, अड़तालीस भेद, एक सौ चवालीस भेद, एक सौ अड़सठ भेद, एक सौ बानवे भेद, दो सौ अठासी भेद, तीन सौ छत्तीस भेद और तीन सौ चौरासी भेद जानने चाहिए। (ध. १३/२४१) मतिज्ञानावरण की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं। (ध. १२/५०२)

**नोट :** जितने मतिज्ञान हैं उतने आवरण कर्म हैं; मतिज्ञान के भेद देखें १/१९।

**६. प्रश्न :** श्रुतज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद होते हैं। प्रकट रूप में श्रुतज्ञानावरणीय कर्म यही फल देता है कि उससे आक्रान्त जीव न तो शास्त्र को ही समझता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ को ही। तीसरी अवस्था भी होती है, जब प्राणी ग्रन्थ और विषयार्थ दोनों को स्वयं जानकर भी जब दूसरों को उपदेश देता है तो उनको भली भाँति नहीं समझा सकता है। (व.चा. ४/१३-१४)

७. प्रश्न : श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर : श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ हैं। जितने अक्षर हैं और जितने अक्षर संयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। उसी प्रकार श्रुत ज्ञानावरणीय की बीस प्रकार की पर्यायावरणीय आदि प्रकृतियाँ जाननी चाहिए। (ध. १३/२४७)

श्रुतज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं। (ध. १२/५०२)

नोट : पर्याय, पर्याय समास आदि ज्ञानों का वर्णन (१/२०) में किया गया है।

८. प्रश्न : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : भवप्रत्यय अवधिज्ञान का आवरण करने वाला भवप्रत्यय अवधिज्ञानावरणीय और क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान को आवरण करने वाला क्षयोपशम प्रत्यय अवधि ज्ञानावरणीय कर्म है। (व.चा. ४/१५)

जब-जब जीव के परिणाम क्रोधादि कुभावों से संक्लिष्ट होते हैं तब कर्मों के क्षय-उपशम (क्षयोपशम) दोनों विलीन हो जाते हैं। फलतः अवधिज्ञान का भी लोप हो जाता है। (व.चा. ४/१८)

९. प्रश्न : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के असंख्यात विकल्प हैं। (ध. १२/५०१)

१०. प्रश्न : मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऋजु एवं कुटिल इन दोनों प्रकार की मानसिक चेष्टाओं को जानने में समर्थ चेतना शक्ति को ढकने वाला कारण ही चौथा (मनःपर्यय) ज्ञानावरणीय है। ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का यही फल होता है कि ज्ञाता योजन पृथक्त्व में बैठे हुए प्राणियों के मनों में उठने वाले संकल्प विकल्पों को भी जानने में समर्थ नहीं होता है। विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानावरणीय का फल यह है कि ज्ञाता ढाई द्वीप में रहने वाले प्राणियों के हृदयों में उठने वाले विचारों और भावों को भी नहीं जान सकता है यह क्षेत्र की अपेक्षा वर्णन है।

काल की अपेक्षा भी कम-से-कम दो-तीन भवों की बातों को और अधिक-से-अधिक असंख्यात भवों में घटी बातों को जानने में असमर्थ होना भी जीव पर मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण पड़ जाने से ही होता है। (व.चा. ४/२०-२२)

११. प्रश्न : मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ असंख्यात कल्प मात्र हैं। (ध. १२/५०२)

१२. प्रश्न : केवल ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा की वह विशेष योग्यता जिसके द्वारा यह जीवादि छहों द्रव्यों के सांगोपांग स्वभाव



और पर्यायों को तीनों लोकों और तीनों कालों में युगपत् जानता है, उसी असाधारण पूर्ण चैतन्य स्वरूप को केवल ज्ञानावरणीय कर्म पूर्ण रूप से ढक देता है। (व.चा. ४/२३)

१३. प्रश्न : केवलज्ञानावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : केवल ज्ञानावरणीय कर्म की एक ही प्रकृति है क्योंकि केवलज्ञान बहुत नहीं है। (ध. १३/३४५)

१४. प्रश्न : अक्षर का अनन्तवाँ भाग किस ज्ञान में उद्घाटित रहता है ?

उत्तर : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने जितने भव सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ों के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय सर्व जघन्य (पर्याय ज्ञान) होता है जो नित्य निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है। (गो.जी. ३२०-२२)

१५. प्रश्न : निगोदिया के कितने भव सम्भव हैं ?

उत्तर : एक अन्तर्मुहूर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६) बार मरण और उतने ही भवों-जन्मों को भी धारण कर सकता है। उनमें विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के अस्सीभव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के साठ भव, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के चालीस भव और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के चौबीस भव धारण कर सकता है।

एकेन्द्रियों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक के छह हजार बारह (६०१२) भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर  $(८०+६०+४०+२४+(६०१२ \times ११))=६६३३६$  छासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव होते हैं। (गो. जी. १२३-२५)

अष्ट पाहुड में इन्हें ही निगोद भव से कहा है-

हे आत्मन् ! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ है। (भा.पा. २८)

नोट - अगली गाथा में उपर्युक्त प्रकार से भवों की संख्या बताई गयी है।

१६. प्रश्न : ज्ञान को आव्रियमाण किसलिए कहा है ?

उत्तर : अपने विरोधी द्रव्य के सन्निधान अर्थात् सामीप्य होने पर भी जो निर्मूलतः विनष्ट नहीं होता है उसे आव्रियमाण कहते हैं, आवरण करने वाले विरोधी द्रव्य को आवारक कहते हैं अर्थात् ज्ञान आव्रियमाण है और कर्म आवारक हैं। (ध. ६/८)

१७. प्रश्न : पूर्व सूत्र में कहे गये मतिज्ञान आदि का यहाँ ग्रहण करके 'मत्यादीनां' इस लघु सूत्र का निर्देश क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : यदि 'मत्यादीनां' ऐसा लघु सूत्र कहते तो 'मति आदि का आवरण है' इस अनिष्ट अर्थ का प्रसंग होता, अतः प्रत्येक के साथ मत्यावरण, श्रुतावरण, अवधि आवरण, मनःपर्यायावरण और केवलावरण इन सबका सम्बन्ध करने के लिए सबका पृथक् ग्रहण किया है। अर्थात् मति आदि प्रत्येक का आवरण भिन्न-भिन्न है, इस बात को सूचित करने के लिए मति आदि सबका सूत्र में उल्लेख किया है। (रा.वा. २)

१८. प्रश्न : लघु सूत्र के साथ पाँच संख्या का निर्देश करने से मति आदि पाँचों ज्ञानों का क्रमशः सम्बन्ध हो जायेगा ?

उत्तर : यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें मति आदि प्रत्येक के पाँच आवरणों का प्रसंग होगा और अनिष्टार्थ की प्राप्ति होगी। परन्तु पुनः प्रतिपद ग्रहण करने के सामर्थ्य से इष्ट अर्थ का ज्ञान कर सकते हैं। अतः इष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए मति, श्रुत आदि का पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। (रा.वा. ३)

१९. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म सत् रूप मतिज्ञानादि का आवरण करता है या असत् रूप मतिज्ञानादि का ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि आगमवचन से इसकी सिद्धि होती है। कथञ्चित् द्रव्यार्थिक दृष्टि से सत् विद्यमान मति आदि का आवरण होता है और कथञ्चित् पर्याय दृष्टि से अविद्यमान मति आदि का आवरण होता है। यदि एकान्त से सर्वथा सत् माना जाय तो फिर इन्हें क्षयोपशमजन्य नहीं कह सकेंगे और यदि सर्वथा एकान्त से असत् माना जाय तब भी ये क्षयोपशमजन्य नहीं हो सकेंगे, असत्त्व होने से क्योंकि जैसे- सत् रूप आकाश का मेघ पटलादि से आवरण देखा जाता है, उसी प्रकार 'सत् रूप' से विद्यमान मतिज्ञान आदि का आवरण मानने में कोई विरोध नहीं है। (रा.वा. ५)

अथवा - प्रत्याख्यानावरण के समान अर्थान्तर का अभाव है। जैसे प्रत्याख्यान कोई प्रत्यक्ष पदार्थ या पर्याय नहीं है जिसके आवरण से प्रत्याख्यानावरण हो किन्तु प्रत्याख्यानावरण कर्म के सान्निध्य से आत्मा में प्रत्याख्यान पर्याय उत्पन्न नहीं होती अतः प्रत्याख्यान का आवरणत्व कहा जाता है। उसी प्रकार मति आदि कोई प्रत्यक्षीभूत पर्याय नहीं है जिसके आवरण से मत्यादि आवरण के आवरणत्व हो। अर्थात् मत्यादि आवरण कहे जावें, परन्तु मति आदि आवरण के उदय से आत्मा मतिज्ञानादि पर्याय रूप से परिणमन नहीं कर सकता वा जिस कर्म के उदय से आत्मा में मतिज्ञानादि उत्पन्न नहीं हो सकते, उसे मतिज्ञानावरण कहते हैं वा वह मतिज्ञान का आवरण कहलाता है। (रा.वा. ६)

२०. प्रश्न : द्रव्य दृष्टि से अभव्य में भी मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का अस्तित्व है तो वह भव्य हो जायेगा ?

**उत्तर :** द्रव्य दृष्टि से अभव्य में मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का अस्तित्व होने मात्र से अभव्य में भव्यत्व का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि भव्यत्व और अभव्यत्व का विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है अपितु सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति (प्रगटता) के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा है। (रा.वा. ८)

**२१. प्रश्न :** अभव्यों के मनःपर्यय एवं केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता अतः उनके मनःपर्ययावरण और केवलावरण नहीं होना चाहिए ?

**उत्तर :** ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि द्रव्य दृष्टि से अभव्यों में भी मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान की शक्ति है। इसलिए अभव्यों में भी सत् रूप से मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान का आवरण होता है। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अभव्यों में मनःपर्यय और केवलज्ञान नहीं है अतः द्रव्य दृष्टि से अभव्य के मनःपर्यय और केवलज्ञान की शक्ति विद्यमान रहते हुए भी जिनके उदय से वे प्रकट नहीं हो पाते, वे मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण अभव्य के भी हैं। (रा.वा. ८.९)

**२२. प्रश्न :** भव्य और अभव्य को किसकी उपमा दी जा सकती है ?

**उत्तर :** भव्य को कनक पाषाण एवं अभव्य को इतर (अन्ध) पाषाण की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार जिसमें सुवर्ण पर्याय प्रकट होने की शक्ति-योग्यता है वा जो सुवर्ण भाव को प्राप्त होगा वह कनक पाषाण कहलाता है और जिसमें सुवर्ण पर्याय प्रकट होने की शक्ति नहीं है वह अन्ध पाषाण कहा जाता है। उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला है वह भव्य है और इससे विपरीत जिसमें सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता नहीं है वह अभव्य है। (रा.वा. ९) अथवा -

अग्नि, जल, पात्र आदि का निमित्त मिलने पर मूंग तो सीझ जाता है परन्तु सैकड़ों मन लकड़ी जलाने पर भी टोरा (ठर्रा) मूंग (जो कभी नहीं सीझता) नहीं सीझता है उसी प्रकार भव्य और अभव्य को जानना चाहिए। (श्लो. हिन्दी ७/४७)

**२३. प्रश्न :** ज्ञानावरण कर्म की पाँच ही प्रकृतियाँ क्यों होती हैं ?

**उत्तर :** मति आदिक पाँच ज्ञानों के आवरण करने वाले कर्म पाँच ही उक्त सूत्र में कहे गये हैं क्योंकि बहिरंग हेतुओं के होने पर भी मति आदिक ज्ञानों की उत्पत्ति का अभाव है। (श्लो. ७/४८)

**२४. प्रश्न :** ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

**उत्तर :** ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का ज्ञान-सामर्थ्य लुप्त हो जाता है, जीव अज्ञ और अति दुःखी होता है, वह स्मृति शून्य और धर्म-श्रवण में निरुत्सुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अवमानकृत अनेक दुःखों का अनुभव करता है। (रा.वा. १०)

वर्षा ऋतु के काले घने मेघ आकाश में धवल चन्द्रिका को फैला देने वाले पूर्णिमा के षोडश-कला

युक्त चन्द्रमा को जैसे अकस्मात् ही कहीं से आकर ढक लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म भी ज्ञान गुण वाले आत्मा को एक क्षण में ही आवृत कर लेता है। किसी एक ओर इकट्टी हुई काँच जिस प्रकार हाथ के आघात से हिलाये-डुलाये जाने पर क्षण भर में ही पूरी स्वच्छ जलराशि के ऊपर फैल जाती है। बिल्कुल इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव होता है। जिसकी आँखों की ज्योति नष्ट हो गयी फलतः आँखों में अन्धकार छा गया है ऐसा व्यक्ति सामने पड़े हुए द्रव्य को देखने में असमर्थ हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने जिस जीव के ज्ञान पर पर्दा डाल दिया है वह पदार्थों के सत्य लक्षणों का विवेचन नहीं कर सकता है। (व.चा. ४/४५-४८)

दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

### चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला- प्रचलास्त्यानगृह्यशच ॥७॥

चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलानां-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृह्यः च ।

(चक्षुरचक्षुरवधि केवलानां) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन, (निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृह्यशच) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृह्य ये दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं।

अर्थ - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृह्य ये दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं।

चक्षुदर्शनावरण - चक्षु दर्शन के आवरण करने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण - जो चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों के दर्शन का आवरण करता है वह अचक्षुदर्शनावरण है।

अवधि दर्शनावरण - जो अवधि दर्शन का आवरण करता है वह अवधि दर्शनावरण है।

केवल दर्शनावरण - जो केवलदर्शन का आवरण करता है वह केवल दर्शनावरण है।

निद्रा - मद आदि को दूर करने के लिए सोना निद्रा है।

निद्रा-निद्रा - निद्रा के ऊपर निद्रा आना निद्रा-निद्रा है।

प्रचला - जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है।

प्रचला-प्रचला - प्रचला की पुनः पुनः आहित वृत्ति प्रचला-प्रचला है।

स्त्यानगृह्य - स्वप्न में भी वीर्य विशेष का आविर्भाव होना स्त्यानगृह्य है।

१. प्रश्न : दर्शनावरण कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं?

उत्तर : दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं- निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय (ध. ६/३१)

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की असंख्यात प्रकृतियाँ हैं। (ध. १२/४७९)

चूँकि आवरण के योग्य ज्ञान और दर्शन के असंख्यात लोक मात्र भेद पाये जाते हैं अतएव उनके आवारक उक्त कर्मों की प्रकृतियाँ भी उतनी ही होनी चाहिए। (ध. १२/४७९)

२. प्रश्न : चक्षु एवं अचक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा चक्षुरिन्द्रिय रहित एकेन्द्रिय वा विकलेंद्रिय हो अथवा चक्षुरिन्द्रिय सहित पंचेन्द्रिय हो तो भी उसके नेत्रों में देखने का सामर्थ्य न हो अर्थात् अंधा, काना व न्यून दृष्टि हो, उसे चक्षुदर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

चक्षुदर्शनावरणी कर्म आँखों की पदार्थ देखने की सामर्थ्य को सर्वथा नष्ट कर देता है और अचक्षुदर्शनावरणी कर्म शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन की प्रतिभास करने की शक्ति को नष्ट कर देता है। (व.चा. ४/५५)

३. प्रश्न : इन दोनों की कितनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : चक्षु और अचक्षु दर्शनावरणी कर्म की प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् असंख्यात लोक मात्र है। (ध. १२/४८७)

४. प्रश्न : अवधि दर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य उत्कृष्ट और जघन्य पदार्थों के साधारण प्रतिभास को जो आवरण अपनी शक्ति से रोक देता है उसे अवधि दर्शनावरणी कहते हैं। (व.चा. ४/५६)

इस अवधि दर्शनावरणी कर्म की असंख्यात लोक प्रकृतियाँ हैं। (ध. १२/४८०)

५. प्रश्न : केवल दर्शनावरणी कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान के ज्ञेय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों के सामान्य प्रतिभास में जो बाधक है उसे ही केवल दर्शनावरणी कहते हैं। (व.चा. ४/५६)

इस केवल दर्शनावरणी कर्म की एक प्रकृति है। (ध. १२/५०२)

६. प्रश्न : दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्तभूत प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना गया है। पदार्थों के आकार रूप विशेष अंश का ग्रहण न करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।

७. प्रश्न : चक्षु आदि दर्शनावरण के उदय में आत्मा की अवस्था कैसी होती है ?

उत्तर : चक्षु एवं अचक्षु दर्शनावरण के उदय में आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आलोचन क्रिया में असमर्थ हो जाता है। एकेन्द्रिय भाव से और विकलेन्द्रिय भाव से तथा पंचेन्द्रियत्व होने पर भी इन्द्रियजन्य आलोचन के सामर्थ्य से रहित हो जाता है। अवधि दर्शनावरण के उदय से आत्मा अवधिदर्शन से रहित हो जाता है। केवल दर्शनावरण कर्म के उदय से केवलदर्शन का आविर्भाव नहीं होता है। वह जीव बहुत काल तक संसार में रहता है। (रा.वा. १२-१४)

८. प्रश्न : चक्षु आदि के साथ पृथक् विभक्ति का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : चक्षु आदि के साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध होने से पृथक् विभक्ति का निर्देश किया है। चक्षु आदि में द्वन्द्व समास है। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण। इस प्रकार इनके साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध है अतः उनमें पृथक् विभक्ति दी गई है। (रा.वा.१)

९. प्रश्न : निद्रा किसे कहते हैं ?

उत्तर : मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करते हुए विनोद के लिए सोना निद्रा है। (सर्वा. ७४४)

‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘द्राति’ धातु से कुत्सित क्रिया में ‘अङ्ङि’ प्रत्यय करने पर निद्रा शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रा लेता है, कुत्सित कार्य करता है, वा स्वप्न में क्रिया करता है वह निद्रा है। (रा.वा. २) जिस प्रकृति के उदय से आधा जागता हुआ सोता है, धूलि से भरे हुए के समान नेत्र हो जाते हैं और गुरुभार को उठाये हुए के समान सिर अतिभारी हो जाता है वह निद्रा प्रकृति है। (ध. १३/३५४) निद्रा के उदय से जीव गमन करता हुआ भी खड़ा हो जाता है, बैठ जाता है, गिर पड़ता है, इत्यादि क्रियायें करता है। (क.प्र. ५०) दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है। (नि.सा. टी. ६)

१०. प्रश्न : निद्रा के उदय में जीव की कैसी दशा होती है ?

उत्तर : निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव अल्पकाल सोता है, उठाये जाने पर जल्दी उठ बैठता है और अल्प शब्द के द्वारा भी सचेत हो जाता है। (ध. ६/३२)

निद्रा प्रकृति के उदय से गिरता हुआ जीव जल्दी अपने आपको संभाल लेता है, थोड़ा-थोड़ा काँपता रहता है और सावधान सोता है। (ध. ६/३२)

निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था होती है। (रा.वा. १५)

निद्रा के उदय से मनुष्य चलता-चलता खड़ा रह जाता है और खड़ा-खड़ा बैठ जाता है अथवा गिर पड़ता है। (गो.क. २४)

निद्रा दर्शनावरणी में वह शक्ति है कि वह चले जाते हुए जीव को तुरन्त कहीं रोक देती है, रुक कर खड़े हुए व्यक्ति को बिना विलम्ब बैठा देती है, बैठे हुए पुरुष को उसके बाद ही लिटा देती है और लेटे को तुरन्त निद्रामग्न कर देती है। (व.चा. ४/५३)

**११. प्रश्न : निद्रा परिणाम की सिद्धि कैसे की जाती है ?**

**उत्तर :** निद्रा कर्म और साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रा परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् निद्रा दर्शनावरण और साता वेदनीय इन दोनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है क्योंकि निद्रा के समय शोक, क्लम, श्रम आदि का नाश देखा जाता है। अतः साताकर्म का उदय तो स्पष्ट ही है (अथवा असातावेदनीय का भी इस समय मन्द उदय रहता है) (रा.वा. ९)

**१२. प्रश्न : निद्रा-निद्रा किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस प्रकृति के उदय से अति निर्भर होकर सोता है और दूसरों के द्वारा उठाये जाने पर भी नहीं उठता है वह निद्रा-निद्रा प्रकृति है। (ध. १३/३५४)

जिसके कारण उठाये जाने पर भी आँखें न खुल सकें उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं। (क.प्र. ४९)  
निद्रा के ऊपर पुनः पुनः निद्रा आना निद्रा-निद्रा कहलाती है। (रा.वा. ३)

**१३. प्रश्न : निद्रा-निद्रा के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?**

**उत्तर :** निद्रा-निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव वृक्ष के शिखर पर, विषम भूमि पर अथवा जिस किसी प्रदेश पर घुरघुराता हुआ या नहीं घुरघुराता हुआ निर्भर अर्थात् गाढ़ निद्रा में सोता है। (ध. ६/३१)

निद्रा-निद्रा के उदय से जीव यद्यपि सोने में बहुत प्रकार सावधानी करता है परन्तु नेत्र खोलने को समर्थ नहीं होता है। (गो. क. २३)

निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है। (रा.वा. १५) निद्रा-निद्रा दर्शनावरणी के प्रभाव से आदमी वृक्ष की शाखाओं और शिखरों पर भी सो जाता है, चौराहे पर या बीच सड़क पर भी मौज से खरटि भरता है तथा बार-बार जगाये जाने पर तथा स्वयं भी जागने का भरपूर प्रयत्न करके भी वह आँख नहीं खोल पाता है। (व.चा. ४/५०)

**१४. प्रश्न : प्रचला दर्शनावरणी किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है। जिस निद्रा से आत्मा में विशेष प्रचलन उत्पन्न होता है वा जो क्रिया आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला निद्रा है। वह शोकादि से उत्पन्न होती है। यह इन्द्रिय व्यापार से उपरत (निवृत्त) होकर बैठे बैठे के शरीर, नेत्र आदि में विकार क्रिया की सूचक है, अन्तः प्रीति का लव मात्र (थोड़ा) हेतु है, वह प्रचला है (रा.वा. ४)

जिस प्रकृति के उदय से आधे सोते हुए का सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, वह प्रचला प्रकृति है। (ध. १३/३५४)

**१५. प्रश्न : प्रचला के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?**

**उत्तर :** प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से लोचन बालुका से भरे हुए के समान हो जाते हैं, सिर गुरुभार को उठाये हुए के समान हो जाता है और नेत्र पुनः पुनः उन्मीलन एवं निमीलन करने लगते हैं। (ध. ६/३२)

प्रचला दर्शनावरण कर्म के उदय से बैठे-बैठे ही घूमने लगता है। नेत्र और शरीर कम्पित हो जाते हैं, चलने लग जाते हैं और देखता हुआ भी नहीं देखता है। (रा.वा. १६) प्रचला के उदय से जीव नेत्र को किंचित् खोलकर सोता है। सोता हुआ भी कुछ-कुछ जानता रहता है। बार-बार मन्द सोता है अर्थात् बार-बार सोता और जागता रहता है। (गो. क. २५)

ये सब प्रचला दर्शनावरणी के लक्षण हैं कि आदमी आँखों को थोड़ा सा खोले रहता है अर्थात् पलक पूरे नहीं ढपते हैं तो भी फिर-फिर कर सो जाता है और बीच-बीच में कभी-कभी आँख भी खोल लेता है, इतना ही नहीं सोते हुए भी उसे अपने आस-पास की घटनाओं का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रहता है। (व.चा. ४/५४)

**१६. प्रश्न : प्रचला-प्रचला दर्शनावरणी किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से स्थित, निषण्ण अर्थात् बैठा हुआ भी सो जाता है, भूत से गृहीत हुए के समान शिर धुनता है, तथा वायु से आहत लता के समान चारों ही दिशाओं में लोटता है, वह प्रचला-प्रचला प्रकृति है। (ध. १३/३५४)

प्रचला की पुनः पुनः आवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। (सर्वा. ७४४)

जिसके कारण सोते हुए लार बहे तथा अंग चले, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। (क.प्र. ५०)

जिसके उदय से सुई आदि चुभाई जाने पर भी चेत न हो उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं। (हरि. पु.)

**१७. प्रश्न : प्रचला-प्रचला के उदय में जीव की कैसी दशा होती है ?**

**उत्तर :** प्रचला-प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से बैठा या खड़ा हुआ मुँह से गिरती हुई लार सहित तथा बार-बार कँपते हुए शरीर और शिर युक्त होता हुआ जीव निर्भर सोता है। (ध. ६/३१-३२)

प्रचला-प्रचला के उदय से पुरुष मुख से लार बहाता है और उसके हस्त पादादि चलायमान हो जाते हैं। (गो.क. २४)

प्रचला-प्रचला के उदय से अत्यन्त ऊँघता है। बाण आदि के द्वारा शरीर के अवयव शिर, अंग, प्रत्यंग के छिद जाने पर भी जीव कुछ नहीं देख सकता है। (रा.वा. १६) यह सब प्रचला-प्रचला का ही प्रतिफल है जो सोते व्यक्ति के मुख से लार बहती है, बार-बार सोने वाला शरीर को इधर-उधर चलाता है तथा शिर को इतना अधिक मोड़ देता है मानों टूट ही जायेगा। (व.चा. ४/५१)



१८. प्रश्न : स्त्यानगृद्धि निद्रा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस निद्रा के उदय से चलता-चलता स्तम्भित किये गये के समान निश्चल खड़ा रहता है, खड़ा-खड़ा भी बैठ जाता है, बैठकर भी पड़ जाता है, पड़ा हुआ भी उठाने पर भी नहीं उठता है, सोता हुआ भी मार्ग में चलता है, मारता है, काटता है और बड़बड़ाता है वह स्त्यानगृद्धि प्रकृति है। (ध.पु. १३/३५४)

जिसके द्वारा आत्मा स्त्यान अर्थात् सोते समय गृद्धता करने लगे, किसी कर्म में सचेष्ट हो जावे और उसके उदय से यह जीव अत्यधिक कठिन काम कर ले वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणी कर्म है। (हरि. पु. ५८/२२९)

जिसके सान्निध्य से मानव अनेक रौद्र कर्म करता है, असम्भव कार्य भी कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्याय 'धातु' के अनेक अर्थ होते हैं, यहाँ पर स्वप्न अर्थ में 'स्त्यायन' गृहीत है। 'गृद्धि' का अर्थ दीप्ति है। जिसके उदय से स्त्यान (स्वप्न) में दीप्ति हो, बहुत से रौद्र, क्रूर, असंभव कार्य करता हो, वह स्त्यानगृद्धि निद्रा है। (रा.वा. ६)

१९. प्रश्न : स्त्यानगृद्धि के उदय में जीव की कैसी दशा हो जाती है ?

उत्तर : स्त्यानगृद्धि के तीव्र उदय से उठाय़ा गया भी पुनः सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ क्रिया करता रहता है, तथा सोते हुए भी बड़बड़ाता है और दाँतों को कड़कड़ाता है। (ध. ६/३२)

स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणी के उदय होने से व्यक्ति जगाकर खड़ा कर देने के तुरन्त बाद ही फिर सो जाता है, सोते-सोते ही उठकर कोई काम कर डालता है और नींद नहीं टूटती है, तथा सोते-सोते कुछ ऐसा बोलता है जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध ही नहीं होता है। (व.चा. ४/५२)

२०. प्रश्न : स्त्यानगृद्धि त्रिक का उदय कहाँ-कहाँ नहीं पाया जाता है ?

उत्तर : स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा तथा प्रचला-प्रचला इन तीन निद्राओं के समूह को स्त्यानगृद्धि त्रिक कहते हैं। इन तीनों का उदय नीचे लिखे स्थानों में नहीं होता है-

- (१) भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्च के नहीं होता है। (गो. क. ३०२-३)
- (२) कर्मभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व। (गो.क. २८६)
- (३) आहारकृद्धि और वैक्रियिक ऋद्धि उत्थापना करने के काल में। (गो.क. २८६)
- (४) देव-नारकियों के इनका उदय नहीं होता है। (गो.क. ३०४-२९०)
- (५) लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच एवं मनुष्यों के। (गो.क. २९६, ३०१)
- (६) छठे गुणस्थान से आगे उदय नहीं होता है क्योंकि छठे में इनकी उदय-व्युच्छिति हो जाती है। (गो.क. २६७)

२१. प्रश्न : इन पाँचों निद्राओं की दर्शनावरण संज्ञा कैसे है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि आत्मा के चेतन गुण को अपहरण करने वाले और सर्व दर्शन के विरोधी कर्म के दर्शनावरणत्व के प्रति कोई विरोध नहीं है। (ध. ६/३२)

ये पाँचों ही प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय हैं क्योंकि वे स्वसंवेदन का विनाश करती हैं। (ध. १३/३५५)

२२. प्रश्न : नाना अधिकरण के अभाव में निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला का द्वित्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यहाँ नाना अधिकरण का अभाव नहीं है, क्योंकि कालादि के भेद से एक ही आत्मा में नानाधिकरण बन जाता है अतः कालभेद से भेद होकर वीप्सा अर्थ में द्वित्व बन जाता है। अथवा-

अभीक्षण-सतत प्रवृत्ति बार-बार प्रवृत्ति अर्थ में द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है जैसे घर में घुस-घुस कर बैठा है अर्थात् बार-बार घर में घुस जाता है। यहाँ अभीक्षण अर्थ में भी द्वित्व होता है। वा बार-बार प्रवृत्ति, सतत प्रवृत्ति आदि अर्थ में द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा एवं प्रचला-प्रचला प्रयोग बन जाता है। (रा.वा. ७-८)

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

सदसद्वेद्ये ॥८॥

सत्-असत्-वेद्ये ।

(सद्) साता (असत्) असाता (वेद्ये) वेदनीय कर्म है।

अर्थ - सातावेदनीय और असातावेदनीय के भेद से वेदनीय कर्म के दो भेद हैं।

सातावेदनीय - प्रशस्त वेद्य का नाम सद्वेद्य-सातावेदनीय है।

असातावेदनीय - अप्रशस्त वेद्य का नाम असद्वेद्य है।

१. प्रश्न : वेदनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं।

उत्तर : वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-

(१) साता वेदनीय (२) असाता वेदनीय। (त.सू. ८/८)

सातावेदनीय और असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीय के दो ही स्वभाव हैं क्योंकि सुख व दुःख रूप वेदनाओं से भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नहीं जाती है। (ध. १२/४८१)

२. प्रश्न : अनन्त विकल्प रूप सुख के भेद से और दुःख के भेद से वेदनीय कर्म की अनन्त शक्तियाँ क्यों नहीं कही गयी हैं ?

उत्तर : यदि पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किया गया होता तो यह कहना सत्य था, परन्तु चूँकि

यहाँ द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन किया गया है, अतएव वेदनीय की उतनी शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं, किन्तु दो ही शक्तियाँ सम्भव हैं। (ध. १२/४८१)

३. प्रश्न : साता वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियों से विशिष्ट देव आदि गतियों में अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान की अपेक्षा प्राणियों को शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव होता है वा प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है वह साता वेदनीय कर्म है। (रा.वा. १)

रति मोहनीय कर्म के उदय से सुख के कारणभूत इन्द्रियों के विषयों का जो अनुभव कराता है वह साता वेदनीय कर्म है। (गो.क.जी. २५)

तीनों लोकों में प्राप्त होने वाले स्वास्थ्य, सेवकादि शारीरिक सुख अथवा प्रेम, प्रसन्नता आदि मानसिक सुख भी उक्त दान, दया आदि शुभ कर्मों के द्वारा बाँधे गये सातावेदनीय के फलोन्मुख होने पर ही प्राप्त होते हैं। (व.चा. ४/६०)

सत् का अर्थ सुख है। इसको ही यहाँ सात शब्द से ग्रहण किया जाता है जैसे कि पण्डुर को पाण्डुर शब्द से भी ग्रहण किया जाता है। सात का जो वेदन कराती है वह सातावेदनीय प्रकृति है। दुःख के प्रतीकार करने में कारणभूत सामग्री मिलाने वाला और दुःख के उत्पादक कर्मद्रव्य की शक्ति का विनाश करने वाला कर्म साता वेदनीय कहलाता है। (ध. १३/३५७)

साता यह नाम सुख का है, उस सुख को जो वेदन कराता है अर्थात् भोग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है। (ध. ६/३५)

इन्द्रियसुख (के कारण चन्दन, कर्पूर, माला, वनिता) आदि विषयों की प्राप्ति जिससे हो, वह सातावेदनीय है। (क.प्र. १४)

४. प्रश्न : असाता वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म का फल प्राणियों को नाना प्रकार की जाति विशेष से व्याप्त नरक, तिर्यञ्च, आदि गतियों में अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक और अति दुःसह जन्म, जरा, मरण, प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग, व्याधि, वध और बन्ध आदि से उत्पन्न दुःख का अनुभव होता है वा अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है वह असातावेदनीय कर्म है, अप्रशस्त वेदनीय असद्वेदनीय है। (रा.वा. २)

जो दुःख स्वरूप इन्द्रिय विषयों का अनुभव करावे उसे असातावेदनीय कहते हैं। (क.प्र. १४)

सुख स्वभाव वाले जीव को दुःख उत्पन्न करने वाला और दुःख प्रशमन करने में कारणभूत द्रव्यों का अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है। (ध. १३/३५७)

तीनों लोकों में जितने भी ताड़न, भेदन आदि शारीरिक और शोक, चिन्ता आदि मानसिक दुःख होते हैं वे सबके सब जीव के साथ बँधे असातावेदनीय कर्म के ही परिपाक हैं। (व.चा. ४/५९)

५. प्रश्न : वेदनीय कर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : सुख और दुःख रूप कार्य अन्यथा हो नहीं सकते हैं। इस अन्यथानुपपत्ति से वेदनीय कर्म का अस्तित्व जाना जाता है क्योंकि कारण से निरपेक्ष कार्य उत्पन्न नहीं होता है। (ध. पु. ६/११)

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-  
मिथ्यात्वतदुभयान्य-कषाय-कषायौ हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुत्रपुंसकवेदा  
अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

दर्शन-चारित्र-मोहनीय-अकषाय-कषाय-वेदनीय-आख्याः त्रि-द्वि-नव-षोडश भेदाः- सम्यक्त्व-  
मिथ्यात्व-तदुभयानि-अकषाय-कषायौ हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदाः  
अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाः- च-एकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ।

अर्थ - दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय, कषायवेदनीय इनके क्रमशः तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय (सम्यग्मिथ्यात्व) ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय, ये दो चारित्रमोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद, ये नौ अकषाय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन, ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह कषाय वेदनीय हैं।

दर्शनमोहनीय - जो जीव की सामान्य श्रद्धा शक्ति को भ्रान्त कर देता है वह दर्शनमोहनीय है।

चारित्रमोहनीय - जीव के चारित्र को अन्यथा करने वाला चारित्र मोहनीय है।

अकषाय वेदनीय - ईषत् कषाय को अकषाय या नोकषाय कहते हैं।

कषाय वेदनीय - जो दुःख रूप धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं वे कषाय वेदनीय हैं।

सम्यक् प्रकृति-जिसके उदय से आप्तादि की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक् प्रकृति है।

मिथ्यात्व - जिसके उदय से आप्तादि का विपरीत या अश्रद्धान होता है वह मिथ्यात्व है।

तदुभय - जिसके उदय से आप्तादि में तथा उनके प्रतिपक्षी कुगुरु आदि में युगपत् श्रद्धा होती है उसे तदुभय कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी - अनन्त भवों को बाँधना ही जिसका स्वभाव है वह अनन्तानुबन्धी है।

अप्रत्याख्यानावरण - जो प्रत्याख्यान रूप नहीं है, वह अप्रत्याख्यानावरण है।

प्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यान का जो आवरण करता है वह प्रत्याख्यानावरण कर्म है।

संज्वलन - जो यथाख्यात चारित्र को घातती है वह संज्वलन कषाय है।

हास्य - जिसके उदय से हँसी आवे उसे हास्य प्रकृति कहते हैं।

रति - जिसके उदय से विषयों में उत्सुकता वा आसक्तता होती है, वह रति है।

अरति - रति से उलटा अरति है।

शोक - जिसके उदय से सोच व चिंता हो वह शोक है।

भय - जिसके उदय से उद्वेग प्रगट हो, वह भय है।

जुगुप्सा - जिस कर्म के उदय से ग्लानि उत्पन्न होती है वह जुगुप्सा कर्म है।

स्त्रीवेद - जिस कर्म के उदय से पुरुष में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह स्त्रीवेद है।

पुंवेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह पुंवेद है।

नपुंसक वेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों में आकांक्षा उत्पन्न होती है वह नपुंसक वेद है।

१. प्रश्न : मोहनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर : मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-

(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय। (ध. ६/३७)

मोहनीय कर्म चार प्रकार का है-

(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय (३) कषाय वेदनीय (४) अकषाय वेदनीय।

(गो.क.जी. ३३)

पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो मोहनीय कर्म की असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं क्योंकि अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते। (ध. १२/४८२)

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है (१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति।

चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है- (१) कषाय वेदनीय (२) अकषाय वेदनीय (नोकषाय)।

कषाय वेदनीय सोलह प्रकार का है- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; अकषाय वेदनीय नौ प्रकार का है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद। (व.चा. ४/२७-३२)

२. प्रश्न : मोहनीय कर्म की अट्टाईस प्रकृतियाँ किस प्रमाण से सिद्ध होती हैं ?

उत्तर : जितने प्रकार के कार्य देखे जाते हैं उतने प्रकार के अंतरंग कारणों का अनुमान कर लिया जाता है। तत्त्वार्थ अश्रद्धान आदि अट्टाईस प्रकार के कार्यों के अन्तरंग कारण अट्टाईस कर्म होने चाहिए। (श्लो. ७/५८)

क्रोध, हास्यादि कारणों के मिलने पर भी धर्मात्मा पुरुषों के क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते हैं। दूसरे को इन क्रोधादि कारणों के बिना भी क्रोधादि भाव उत्पन्न हो जाते हैं अतः क्रोधादि के बाह्य में दीखने वाले गाली आदि को कारण मानने में व्यभिचार दोष आता है अतः अंतरंग कर्मों का मानना निर्दोष है। (श्लो. ७/५८ हि.)

३. प्रश्न : दर्शन मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। (ध. ६/३८) आप्त, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है, विपरीत कर देता है वह दर्शन मोहनीय है। अथवा - आप्त, आगम और पदार्थों में प्रत्यय, रुचि, श्रद्धा और दर्शन होता है उसका नाम दर्शन है। उसको मोहित करने वाला अर्थात् उससे भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय कहलाता है। (ध. १३/३५७-५८)

जिस कर्म के उदय से अनाप्त में आप्त बुद्धि और अपदार्थ में पदार्थबुद्धि होती है। अथवा आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है, अथवा दोनों में श्रद्धा होती है वह दर्शनमोहनीय कर्म है, यह अर्थ कहा गया है। (ध. ६/३८)

४. प्रश्न : दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक ही प्रकार का है क्योंकि बन्ध मात्र मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं अतः सत्ता की अपेक्षा दर्शनमोहनीय तीन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति) भेद वाला है तथा उदय भी तीन रूप में होता है। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : मिथ्यात्व प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान से निरुत्सुक, हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय है। (रा.वा. २) जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा नहीं होती है वह मिथ्यात्व है, यह कोदों के तुष की तरह है। (मू. १२३३ आ.) मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान गुण विकृत हो जाता है और अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणति हो जाती है। (हरि. पु. ५८/२३३)

जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में अश्रद्धा होती है वह मिथ्यात्व प्रकृति है। (ध. ६/३९)

६. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म प्रक्षालन विशेष से क्षीण-अक्षीण मद शक्ति वाले कोदों धान्य के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्वमिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के, आधे शुद्ध कोदों से जिस प्रकार मद होता है, उसी तरह के मिश्र भाव होते हैं। (रा.वा. २) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप दोनों भावों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव का उत्पादक कर्म सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है। (ध. १३/३५८)

जिससे तत्त्व तथा अतत्त्व दोनों का श्रद्धान हो वह सम्यग्मिथ्यात्व है। (क.प्र. ५३) जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में तथा उनके प्रतिपक्षियों में अर्थात्, कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्त्वों में युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। (ध. ६/३९)

दुराचार को व्रत मानना और अतत्त्व को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है तथापि जो मानव इस मूढता को सर्वथा नहीं छोड़ता और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढता का भी पालन करता है तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवने के कारण उसके समस्त धर्माचरण का लोप कर देना ठीक नहीं है और मिथ्यादृष्टि कहना अच्छा नहीं है। (य. ति. च. ६/१४६-४७)

जिसके उदय से तत्त्वों के श्रद्धान रूप, अश्रद्धान रूप दोनों प्रकार के भाव कोदों में मद शक्ति के समान वा दही गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान होते हैं, उसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं। (हरि. पु. ५८/२३३)

७. प्रश्न : सम्यक् प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब शुभ परिणामों से मिथ्यात्व का अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्मश्रद्धान को नहीं रोकती है वह सम्यक् प्रकृति है। (रा.वा. ४)

जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का मूल से विनाश तो नहीं होता, किन्तु स्थिरता व निष्कांक्षिता का घात होने से सम्यग्दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लग जाते हैं, वह सम्यक् प्रकृति है। (ज.ध. ५/१३०)

जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक् प्रकृति है। (ध. ६/३९) अथवा उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कार्य सम्यक् प्रकृति है। (ध. १३/३५८)

८. प्रश्न : इन तीनों (सम्यक्, मिश्र और मिथ्यात्व) प्रकृतियों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यक्त्व प्रकृति का अनन्तगुणा हीन होता है। (ध. ६/२३५)

९. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाप रूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं, घातिया कर्मों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये पाप की क्रियायें हैं। इन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है, आच्छादित करता है, उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। (ध. ६/४०)

राग का न होना चारित्र है। उसे मोहित करने वाला, उससे विपरीत भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय कहलाता है। (ध. १३/३५८)

जो आचरण करता है, अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है उसे जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है सो चारित्र मोहनीय है। (गो.क.जी. ३३)

१०. प्रश्न : चारित्र मोहनीय कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-

(१) अकषाय वेदनीय (२) कषाय वेदनीय।

उदय स्थानों की विशेषता की अपेक्षा चारित्र मोहनीय कर्म के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं (क्योंकि तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर आदि अनेक भेदों के उदय में आने की अपेक्षा इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं)। (कर्म. प्र. ६१)

११. प्रश्न : कषाय वेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : कषाय वेदनीय कर्म सोलह प्रकार का है-

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ। (ध. ६/४०-४१)

कषाय का उदय छह प्रकार का होता है-

(१) तीव्रतम (२) तीव्रतर (३) तीव्र (४) मन्द (५) मन्दतर (६) मन्दतम। (ध. १/३९०)

नोट - कषाय का लक्षण (देखें ६/४)

१२. प्रश्न : अनन्तानुबन्धी कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्तानुबन्धी हैं। (रा.वा. ५) अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व अनन्त है। उस मिथ्यात्व की जो अनुबन्धिनी है वह अनन्तानुबन्धी है। (गो. क. जी. ३३)

जिन कषायों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए संस्कार का अनन्त भवों में अवस्थान माना गया है अथवा



जिन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुबन्ध अनन्त होता है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, इनके द्वारा वृद्धिगत संसार अनन्त भवों में अनुबन्ध को नहीं छोड़ता है इसलिए 'अनन्तानुबन्ध' यह नाम संसार का है। वह संसारात्मक अनन्तानुबन्धी जिनके होती है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया लोभ हैं। (ध. ६/४१-४२)

जो क्रोध-मान-माया-लोभ सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र का विनाश करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं अथवा अनन्त भवों में जिनका अनुबन्ध चला जाता है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। (ध. १३/३६०)

**१३. प्रश्न : अप्रत्याख्यानावरण कषाय किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् भी देशविरति (संयमासंयम) नामक व्रत को स्वीकार नहीं कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नहीं कर सकता है वह देशविरति प्रत्याख्यान (त्याग) का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। (रा.वा. ५) (जो अ=ईषत् प्रत्याख्यान= संयम) देशसंयम को अल्पमात्र भी न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। (गो. क. जी. ३३)

अप्रत्याख्यान संयमासंयम का नाम है, आवरण करने वाले कर्म को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। (ध. ६/४४)

**१४. प्रश्न : प्रत्याख्यानावरण कषाय किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से सकल विरति या सकल संयम को धारण नहीं कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय है। (रा.वा. ५)

प्रत्याख्यान का अर्थ महाव्रत है। उनका आवरण करने वाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार प्रकार का है। (ध. १३/३६०)

**१५. प्रश्न : संज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** 'सं' एकीभाव अर्थ में रहता है। संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भाव में संयम चमकता रहता है वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। (सर्वा. ७५१)

(जैसे विद्युत् का प्रकाश क्षण के अनन्तर नष्ट हो जाता है वह संज्वलन कषाय है। सं-सम्यक् शीघ्र ज्वलन - जलने वाला, नष्ट होने वाला ऐसी संज्वलन शब्द की निरुक्ति है। (सि.सा. ९/८८)

जो सम्यक् रूप से ज्वलित होता है वह संज्वलन कषाय है। (ध. १३/३६०) संज्वलन क्रोधादिक सकल कषाय के अभाव रूप यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं। 'सं' अर्थात् समीचीन निर्मल यथाख्यात चारित्र को 'ज्वलन्ति' जो दहन करता है उसको संज्वलन कहते हैं, इस निरुक्ति से संज्वलन का उदय होने पर भी सामायिक आदि चारित्र के सद्भाव का अविरोध सिद्ध होता है। (गो.जी.जी. २८३)

जो संयम के साथ-साथ प्रकाशमान रहें एवं जिनके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। (हरि. ५८/२४१)

१६. प्रश्न : चारित्र को नाश नहीं करने वाले संज्वलन कषायों के चारित्रावरण कैसे बन सकता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि ये संज्वलन कषाय संयम में मल उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होते हैं इसलिए इनके चारित्रावरण मानने में विरोध नहीं है। (ध. ६/४४)

१७. प्रश्न : क्रोध किसे कहते हैं ?<sup>१</sup>

उत्तर : अपने और पर के उपघात, अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष का भाव क्रोध है। (रा.वा. ५)

क्रोध, रोष और समरम्भ इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। (ध. ६/४१) हृदय-दाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीव के परिणाम को क्रोध कहते हैं। (ध. १२/२८३)

अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश होना या नाश करना क्रोध है अथवा अशुभ भावों का उत्पन्न होना क्रोध है। (य.ति.च. ८/४६७) शान्तात्मा से पृथग्भूत यह जो क्षमारहित भाव है वह क्रोध है। (स. सा. ता. १९९) अन्तरंग में परम उपशम मूर्ति केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध है। (द्र.सं. ३० टी.)

जिसके उदय से अपने और पर के घात करने के परिणाम हों तथा पर के उपकार करने के अभाव रूप भाव वा क्रूर भाव हों सो क्रोध कषाय है।

१८. प्रश्न : क्रोध को किस-किस की उपमा दी है ?

उत्तर : क्रोध चार प्रकार का होता है-

(१) पत्थर रेखा सदृश (२) पृथ्वी रेखा सदृश (३) धूलि रेखा सदृश (४) जलरेखा सदृश।

(१) नगराजि सदृश (२) पृथिवीराजि सदृश (३) बालुकाराजि सदृश (४) उदकराजि सदृश।

(ज.ध. १२/१५२)

१. क्रोध के आठ अनुचर हैं- १. परहिंसा २. दुःसा हस (परस्त्रीसेवन व कन्याओं को दूषित करना) ३. त्रिदोह ४. पौरोभाग्य (चुगली) करना ५. अर्थदूषण - आय से अधिक धन खर्च करना, अपात्रों को धन देना ६. ईर्ष्या ७. वाक्यपारुष्य - कठोर वचन बोलना ८. दण्ड पारुष्य - अन्याय से किसी का वध करना, जेल की सजा देना, धन का अपहरण कर लेना या उसकी जीविका नष्ट करना। (य.ति.च.)

१९. प्रश्न : कौनसा क्रोध नगराजि सदृश कहलाता है ?

उत्तर : 'नगराजिसरिसो' यह शब्द पर्वत शिला भेद सदृश क्रोध का द्योतक है। सर्वकाल में अविनाश रूप साधर्म्य को देखकर यह उदाहरण कहा गया है। जैसे- पर्वत शिला भेद किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न होकर पुनः कभी दूसरे उपाय द्वारा सन्धान को प्राप्त नहीं होता, तदवस्थ बना ही रहता है। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम किसी भी जीव के किसी भी पुरुष विशेष में उत्पन्न होकर किसी भी दूसरे उपाय से उपशम को प्राप्त नहीं होता है प्रतिकार रहित होकर उस भव में भी उसी प्रकार बना रहता है और जन्मान्तर में भी उससे उत्पन्न हुआ संस्कार बना रहता है। इसी प्रकार का तीव्रतर क्रोध परिणाम नगराजि सदृश कहा जाता है। यहाँ 'राजि' शब्द अवयव के विच्छिन्न होने रूप पर्याय का वाचक है। (ज.ध. १२/१५३)

प्रथम प्रकार के क्रोध का जो संस्कार आत्मा पर पड़ता है वह इतना तीव्र होता है कि उसकी उपमा पत्थर पर खोदी गयी रेखा से दी जाती है। यही कारण है कि ये क्रोधादि जन्म-जन्मान्तरों में भी जाकर शान्त नहीं होते हैं और निमित्त सामने आते ही भड़क उठते हैं। (व.चा. ४/६६)

२०. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'पृथिवीराजि' सदृश होता है ?

उत्तर : यह क्रोध पूर्व क्रोध (नगराजि सदृश) से मन्द अनुभाग वाला है क्योंकि चिरकाल तक अवस्थित होने पर भी इसका पुनः दूसरे उपाय से सन्धान (जुड़ जाना) हो जाता है। यथा, ग्रीष्मकाल में पृथिवी का भेद हुआ (गाड़ी गड़ार-दरार बन गयी)। पुनः वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह दरार भरकर उसी समय संधान को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम चिरकाल तक अवस्थित रहकर भी पुनः दूसरे कारण से तथा गुरु के उपदेश आदि से उपशम भाव को प्राप्त होता है, वह इस प्रकार का तीव्र परिणाम भेद पृथिवी रेखा सदृश है। (यहाँ 'राजि' शब्द का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए)। (ज.ध. १२/१५३)

दूसरे प्रकार के क्रोध की जो छाप आत्मा पर पड़ती है उसे वैसा ही समझना चाहिए जैसा कि गीली पृथ्वी के सूखने पर उसमें पड़ी दरार होती है। यह संस्कार काफी समय बीतने पर अथवा शास्त्र रूपी जलवृष्टि से चित्त स्नेहार्द्र हो जाने पर उपशम को प्राप्त हो जाता है। (व.चा. ४/६७)

२१. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'धूलिराजि' सदृश है ?

उत्तर : 'धूलिराजि सदृश' ऐसा कहने पर नदी के पुलिन आदि में बालुकाराशि के मध्य उत्पन्न हुई रेखा के समान क्रोध, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। वह अल्पतर काल तक रहता है, इसे देखकर कहा है। यथा, नदी के पुलिन आदि में बालुकाराशि के मध्य पुरुष के प्रयोग से या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई रेखा जैसे हवा के अभिघात आदि दूसरे कारण द्वारा शीघ्र ही पुनः समान हो जाती है अर्थात् रेखा मिट जाती है। इसी प्रकार यह क्रोध परिणाम भी मन्द रूप से उत्पन्न होकर गुरु के उपदेश रूपी पवन से प्रेरित होता हुआ अति शीघ्र उपशम को प्राप्त हो जाता है। यहाँ राई (राजि) शब्द रेखा का पर्यायवाची है। (ज.ध. १२/१५४)

प्रत्याख्यान क्रोध के उद्गार वैसे ही होते हैं जैसा कि बालू के ऊपर लिखा गया लेख, क्योंकि ज्यों ही उस पर ज्ञान रूपी तीव्र वायु के झोंके लगते हैं त्यों ही लेख की समस्त रेखाएँ भरकर एक ही हो जाती हैं। (व.चा. ४/६८)

२२. प्रश्न : कौनसा क्रोध 'उदकराजि' सदृश है ?

उत्तर : पर्वत शिला भेद के समान ही इस क्रोध को जानना चाहिए। किन्तु यह इससे भी मन्दतर अनुभाग वाला और स्तोकतर काल तक रहने वाला होता है। क्योंकि पानी के भीतर उत्पन्न हुई रेखा का बिना दूसरे उपाय के उस समय ही विनाश देखा जाता है। (ज.ध. १२/१५४)

२३. प्रश्न : मान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य, बल आदि के मद के कारण दूसरों के प्रति नमने की वृत्ति नहीं होना मान कषाय है।

रोष से अथवा विद्या, तप, जाति आदि मद से अन्य के प्रति नम्र न होने (दूसरे के तिरस्कार) रूप भाव को मान कहते हैं। (ध. १/३५१)

मान, गर्व और स्तब्धत्व, ये एकार्थवाची हैं। (ध. ६/४१)

विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्त से उत्पन्न उद्धतता रूप जीव का परिणाम मान कहलाता है। (ध. १२/२८३)

कवित्व कौशल के कारण समस्त जनों के द्वारा पूजनीयपने में कुल, जाति की विशुद्धि से, निरुपम बल से, सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से, सात ऋद्धियों से अथवा शरीर-लावण्य रस के विस्तार से होने वाला आत्म-अहंकार वह मान है। (नि.सा.ता. ११२) विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करना (आदर-सत्कार नहीं करना) मान है। अथवा युक्ति दिखा देने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है। (य.ति.च. ८/४६७)

शिष्टाचार विरुद्ध प्रकृतियों में दुराग्रह नहीं त्यागना अथवा यथार्थ आगम कथित बात को ग्रहण नहीं करना स्वीकार नहीं करना मान कषाय है। पाप कार्यों को न छोड़ना और कही हुई योग्य बात को नहीं मानना मान कषाय है। (नी.वा. ४/५)

२४. प्रश्न : मान को किस-किस की उपमा दी गयी है ?

उत्तर : मान चार प्रकार का है-

(१) पत्थर के खम्भे के समान (२) हड्डी के समान (३) गीली लकड़ी के समान (४) बेंत के समान। (य.ति.च. ८/४७१)

(१) शैल स्तम्भ सदृश (२) अस्थिस्तम्भ सदृश (३) दारु स्तम्भ सदृश (४) लता सदृश। (रा.वा.५)

(१) शैल घन सदृश (२) अस्थि सदृश (३) दारु सदृश (४) लता सदृश। (ज.ध. १२/१५२)

२५. प्रश्न : कौनसा मान शैलस्तम्भ के समान है ?

उत्तर : प्रथम प्रकार का (शैलस्तम्भ सदृश) मान इतना तीव्र और विवेकहीन होता है कि शास्त्रकारों ने उसे पत्थर के स्तम्भ के समान माना है इसीलिए अनन्तकाल बीत जाने पर भी उससे आक्रान्त जीव में तनिक भी मृदुता या विनम्रता नहीं आती है। (व.चा. ४/७०)

२६. प्रश्न : कौनसा मान अस्थि स्तम्भ सदृश है ?

उत्तर : पुराण पुरुष कहते हैं कि दूसरे मान का उदय आत्मा में हड्डी के समान कर्कशता ला देता है, परिणाम यह होता है कि जब जीव ज्ञान रूपी आग में काफी तपाया जाता है तो उसमें कुछ-कुछ विनम्रता आ ही जाती है। (व.चा. ४/७१)

२७. प्रश्न : कौनसा मान दारुस्तम्भ सदृश है ?

उत्तर : तृतीय प्रत्याख्यान मान का उभार होने पर जीव में उतनी ही कठोरता आ जाती है जितनी गीली लकड़ी में होती है, फलतः जब ऐसा जीव रूपी काष्ठ ज्ञानरूपी तेल से सराबोर कर दिया जाता है तो उसके उपरान्त ही वह सरलता से झुक जाता है। (व.चा. ४/७२)

२८. प्रश्न : कौनसा मान लता सदृश है ?

उत्तर : अन्तिम संज्वलन मान के संस्कार की बालों की घुंघराली लट से तुलना की है, आपाततः ज्यों ही उसे शास्त्र ज्ञान रूपी हाथ से स्पर्श करिये त्यों ही वह क्षणभर में ही सीधा और सरल हो जाता है। (व.चा. ४/७३)

२९. प्रश्न : माया किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरों को ठगने के लिए जो छल-कपट और कुटिल भाव होता है वह माया है। (रा.वा.५) अपने हृदय के विचारों को छुपाने की जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते हैं। (ध. १२/२८३)

३०. प्रश्न : माया कषाय को किस-किस की उपमा दी गयी है ?

उत्तर : माया कषाय का स्वभाव चार प्रकार का है-

(१) बाँस की जड़ के समान (२) बकरी के सींग के समान (३) गोमूत्र के समान (४) चामरों के समान। (य.ति.च. ८/४७२)

(१) बाँस वृक्ष की गठीली जड़ के सदृश (२) मेष (मेढ़े) के सींग के सदृश (३) गाय के मूत्र के सदृश (४) अवलेखनी (खुरपा) के सदृश। (ज.ध. १२/१५५)

नोट : यहाँ अवलेखनी शब्द से दाँत साफ करने का टुकड़ा दातुन या जीभी लेना चाहिए।  
(ज.ध.१२)

३१. प्रश्न : पहली माया किसके सदृश है ?

उत्तर : बाँस की टेढ़ीमेढ़ी जड़ की अंकुर युक्त गाँठ के सदृश पहली माया होती है। इसके टेढ़ेपन के निष्प्रतिकारपने का आश्रय करके यह उदाहरण दिया गया है। जैसे-बाँस की जड़ की गाँठ नष्ट होकर तथा शीर्ण होकर भी सरल नहीं की जा सकती है, इसी प्रकार अतितीव्र वक्र भाव से परिणत माया परिणाम भी निरूपक्रम (उपाय-रहित) होता है। (ज.ध. १२/१५५)

प्रथम अनन्तानुबन्धी माया के उदय होने पर जीव की चित्तवृत्ति बिल्कुल बाँस की जड़ों के समान हो जाती है। इसी कारण उसके चाल-चलन और स्वभाव अत्यन्त उलझे तथा कुटिल हो जाते हैं और उनमें कभी भी सीधापन नहीं आता है। (व.चा. ४/७४)

३२. प्रश्न : मेढ़े के सींग सदृश आदि माया कैसे स्वभाव वाली है ?

उत्तर : यह माया पूर्व माया से मन्द अनुभाग वाली है, क्योंकि अतिविलित वक्रतर रूप से परिणत हुए भी मेढ़े के सींग अग्निताप आदि दूसरे उपायों द्वारा सरल करना शक्य है। (ज.ध. १२/१५५)

अप्रत्याख्यानावरणी माया का आत्मा पर पड़ने वाला संस्कार मेढ़े के सींग के समान गुड़ीदार होता है। फलतः इस कषाय से आक्रान्त व्यक्ति मन में कुछ सोचता है और जो करता है वह इससे बिल्कुल भिन्न होता है। (व.चा. ४/७५)

३३. प्रश्न : 'गोमूत्र सदृश' माया किसके समान होती है ?

उत्तर : प्रत्याख्यानावरणी माया के उभार की तुलना चलते बैल के मूत्र से बनी टेढ़ी-मेढ़ी रेखा से होती है। परिणाम यह होता है कि उसकी सब ही चेष्टाएँ बैल के मूत्र के समान आधी सीधी और आधी कुटिल एवं कपटपूर्ण होती है। (व.चा. ४/७६)

३४. प्रश्न : चौथी माया कैसी है ?

उत्तर : अन्तिम प्रकार की माया का उभार आत्मा को चमरी मृग के रोम के समान कर देता है। अतएव ज्यों ही आत्मा रूपी रोम को आप ज्ञानरूपी यन्त्र में रखकर दबाते हैं- त्यों ही वह बिना विलम्ब अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। (व.चा. ४/७७)

३५. प्रश्न : लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकांक्षा लोभ है ?

गर्हा या कांक्षा को लोभ कहते हैं। (ध. १/३५१)

चेतन स्त्री-पुत्र आदिक में और अचेतन धन-धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार की चित्त

में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं। अथवा इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और इनके विनाश होने पर जो महान् असन्तोष होता है उसे लोभ कहते हैं। (य.ति.च. ८/४६७)

बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार जो अनुराग रूप बुद्धि होती है, वह लोभ है। (ध. १२/२८३) योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव है, वह लोभ है। (नि.सा.ता. ११२)

दान देने योग्य पुरुषों में अपना धन नहीं देना अथवा दूसरे के धन को चोरी आदि कर हड़पना लोभ है। (नी.वा. ४/४)

३६. प्रश्न : लोभ को किसकी उपमा दी गयी है ?

उत्तर : लोभ चार प्रकार का होता है-

(१) किरमिच रंग के सदृश (२) नीलरंग के सदृश (३) शरीर के मल के सदृश (४) हल्दी के रंग के सदृश। (य.ति. च. ८/४७३)

(१) कृमिराग सदृश (२) अक्षमल सदृश (३) पांशुलेप सदृश (४) हारिद्र वस्त्र सदृश। (ज.ध.१२/१५५)

(१) कृमिराग सदृश (२) कज्जल सदृश (३) कर्दम सदृश (४) हारिद्र वस्त्र सदृश। (रा.वा.५)

३७. प्रश्न : कृमिराग सदृश लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर : कृमिराग एक कीटविशेष होता है। वह नियम से जिस वर्ण के आहार को ग्रहण करता है, उसी वर्ण के अतिचिक्कण डोरे को अपने मल त्यागने के द्वार से निकालता है। क्योंकि उसका वैसा ही स्वभाव है। उस सूत्र द्वारा जुलाहे अति कीमती अनेक वर्ण वाले नाना वस्त्र बनाते हैं। उस वर्ण के रंग को यद्यपि हजार कलशों की सतत धारा द्वारा प्रक्षालित किया जाता है, नाना प्रकार के क्षार युक्त जलों द्वारा धोया जाता है तो भी उस रंग को थोड़ा भी दूर करना शक्य नहीं है, क्योंकि वह अतिनिकाचित स्वरूप है, अग्नि से जलाये जाने पर भी भस्मपने को प्राप्त होते हुए उस कृमिराग से अनुरक्त हुए वस्त्र के उस वर्ण का रंग कभी छूटने योग्य न होने से वैसा ही बना रहता है। इसी प्रकार जीव के हृदय में स्थित अतितीव्र लोभ परिणाम, जिसे कृश नहीं किया जा सकता, वह कृमिराग के रंग के सदृश कहा जाता है। (ज.ध. १२/१५६) प्रथम लोभ के उदय होने पर आत्मा पर वैसा ही अमिट संस्कार पड़ जाता है जैसा कि कीड़ों के खून से बनाये गये लाल रंग (कागज) का होता है। अत एव ऐसे आत्मा को जब शास्त्रज्ञान रूपी ज्वाला में जलाया जाता है तब भी वह लोभ का संस्कार उसे नहीं छोड़ता है। (व.चा. ४/७८)

३८. प्रश्न : अक्षमल सदृश लोभ कैसा है ?

उत्तर : यह लोभ निकृष्ट वीर्य वाला और तीव्र अवस्था परिणत होता है। यह अक्षमल सदृश होता है। रथ के चक्के को या गाड़ी के तुम्ब को धारण करने वाली लकड़ी 'अक्ष' कहलाती है और उसका

मल अक्षमल है। अर्थात् अक्षांजन के स्नेह से गीला हुआ मषी मल अति चिक्कण होने से उस अक्षमल को सुखपूर्वक दूर करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार यह लोभ परिणाम भी निधत्त स्वरूप होने से जीव के हृदय में अवगाढ होता है इसलिए उसे दूर करना शक्य नहीं है। (ज.ध. १२/१५६)

अप्रत्याख्यानावरणी लोभ से आत्मा पर वैसा ही रंग चढ़ जाता है जैसा कि नीले रंग का किसी धवल वस्तु पर आता है, परिणाम यह होता है कि ज्यों ही जीव अपने आपको ज्ञानरूपी जल में धोता है त्यों ही आत्मा तुरन्त ही शुचि और स्वच्छ हो जाता है। (व.चा. ४/७९)

**३९. प्रश्न : कौनसा लोभ कर्दम सदृश होता है ?**

**उत्तर :** जिस प्रकार पैर में लगा हुआ धूलि का लेप पानी के द्वारा धोने आदि उपायों द्वारा सुखपूर्वक दूर कर दिया जाता है, वह चिरकाल तक नहीं ठहरता, उसी के समान उत्तरोत्तर मन्द स्वभाव वाला यह लोभ का भेद भी चिरकाल तक नहीं ठहरता। पिछले लोभ से अनन्त गुणी हीन सामर्थ्य वाला होता हुआ थोड़े ही काल में थोड़े से प्रयत्न द्वारा दूर हो जाता है। (ज.ध. १२/१५६-५७)

प्रत्याख्यानावरणी लोभ के उभार की गीले कीचड़ के साथ तुलना की गयी है फलतः ज्यों ही प्राणी आत्मा को शास्त्राभ्यास रूपी जल से भली भाँति धोता है त्यों ही इस लोभ का नामो-निशां भी आत्मा से गायब हो जाता है। (व.चा. ४/८०)

**४०. प्रश्न : कौनसा लोभ हारिद्र वस्त्र के समान होता है ?**

**उत्तर :** जो लोभ की चौथी मन्दतर अवस्था विशेष है, वह हारिद्र वस्त्र के समान कही गयी है। हल्दी से रंगा वस्त्र हारिद्र कहलाता है। जैसे- हल्दी के द्रव से रंगे गये वस्त्र का वर्ण रंग चिरकाल तक नहीं ठहरता, वायु और आतप आदि के निमित्त से ही उड़ जाता है, उसी प्रकार यह लोभ का भेद मन्दतम अनुभाग से परिणत होने के कारण चिरकाल तक आत्मा में नहीं ठहरता है। क्षण मात्र में ही दूर हो जाता है इसी प्रकार प्रकर्ष और अप्रकर्ष वाले तीव्र और मन्द अवस्था के भेद से विभक्त होने के कारण लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है। (ज.ध. १२/१५७)

**४१. प्रश्न : इन कषायों का वासना काल कितना है ?**

**उत्तर :** संज्वलन कषाय का वासना काल - अन्तर्मुहूर्त।

अप्रत्याख्यान कषाय का वासना काल - एक पक्ष (१५ दिन)।

प्रत्याख्यान कषाय का वासना काल- छह माह।

अनन्तानुबंधी कषाय का वासना काल संख्यात-असंख्यात अनन्त भव हैं। (गो.क. ४६)

**४२. प्रश्न : अकषाय वेदनीय किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** अकषाय में 'अ' निषेध अर्थ में नहीं है परन्तु ईषद् अर्थ में 'नञ्' समास है। जिस प्रकार



कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर बलवन्त हो जाता है और जीवों को मारने के लिए प्रवृत्ति करता है तथा स्वामी के इशारे से वापिस आ जाता है; उसी प्रकार क्रोधादि कषायों के बल पर ही ईषत् प्रतिषेध होने पर हास्यादि नोकषायों की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि कषायों के अभाव में ये निर्बल रहती हैं। इसलिए हास्यादि को ईषत् कषाय, अकषाय या नोकषाय कहते हैं। (रा.वा. ३) जिस कर्म के उदय से जीव नोकषाय का वेदन करता है उसे नोकषाय वेदनीय कहते हैं। (ध. १३/३५९)

४३. प्रश्न : कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय में क्या अन्तर है ?

उत्तर : (१) कषाय वेदनीय चारित्र का आवरण करने वाली है और अकषाय वेदनीय के चारित्र को आवरण करने का विरोध है।

(२) कषाय वेदनीय की अपेक्षा नोकषाय वेदनीय में कर्म की स्थितियों के अनुभाग और उदय की अपेक्षा अल्पता पायी जाती है। (ध.पु. ६/४५-४६ के आधार से)

४४. प्रश्न : अकषाय वेदनीय कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अकषाय वेदनीय कर्म नौ प्रकार का है-

(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुंवेद (९) नपुंसक वेद। (रा.वा. ४)

४५. प्रश्न : हास्य कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से हँसी आती है वह हास्य कर्म है। (सर्वा. ७५०)

हँसने को हास्य कहते हैं। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के हास्य निमित्तक राग उत्पन्न होता है उस कर्म स्कन्ध की उपचार से हास्य संज्ञा है। (ध. ६/४७)

जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार का परिहास उत्पन्न होता है वह हास्यकर्म है। (ध. १३/३६१) हास्य नोकषाय के उदय होने पर यह जीव प्रसन्नता के अवसर पर, साकूत क्रोध में तथा कहीं पर अपमान होने के बाद अकेले ही या अन्य लोगों के सामने भी प्रकट कारण के बिना ही हँसता है अथवा अपने आप कुछ बड़बड़ाता जाता है। (व.चा. ४/८३)

४६. प्रश्न : रति अकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : रमने को रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयों में आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं। (ध. ६/४७)

जिन कर्म स्कन्ध के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में राग उत्पन्न होता है, उनकी रति संज्ञा है। (ध. ६/४७)

जब किसी जीव के रति नोकषाय का उदय होता है तो उसे उन दुष्ट लोगों से ही अधिक प्रीति होती

है जो पापमय कर्मों के करने में ही सदा लगे रहते हैं, जिनके कर्मों का परिणाम कुफल प्राप्ति ही होता है तथा निष्कर्ष शुद्ध अहित ही होता है। (व.चा. ४/८४)

मनोहर वस्तुओं में परम प्रीति सो रति है। (नि.सा.ता. ६)

जिसके द्वारा रमता है उसका अथवा रमण मात्र का नाम रति है। जिन कर्म स्कन्धों के उदय से कुत्सित में रमता है या जिनके द्रव्यादि में रति उत्पन्न होती है उनका नाम रति है। (मू. १२३५) आ.

४७. प्रश्न : अरति नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा के देश आदि में उत्सुकता उत्पन्न होती है, वह रति नाम का द्रव्य कर्म है। इससे विपरीत अरति कर्म है। (क.प्र. ६२)

यह अरति नोकषाय का ही फल है जो जीव ज्ञानार्जन के साधन, व्रतपालन का शुभ अवसर, तप तपने की सुविधाएँ, ज्ञानाभाव मार्जन की सामग्री, लौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति (द्रव्य) तथा अन्य सुखों के कारणों की प्राप्ति हो जानेपर भी अपने आपको उनमें नहीं लगा सकता है। (व.चा. ४/८५)

जिन कर्म स्कन्धों के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में जीव के अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी अरति संज्ञा है। (ध. ६/४७)

जो रमता नहीं है अथवा जिसके द्वारा रति को प्राप्त नहीं किया जाता है वह अरति है। जिस पुद्गल स्कन्ध के उदय से द्रव्य, क्षेत्र आदि में अरति-अप्रीति उत्पन्न होती है वह अरति है। (मू. १२३५) आ.

४८. प्रश्न : शोक नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : शोक करना और जो शोक किया जाता है वह शोक है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उसका नाम शोक है। (मू.आ. १२३५) सोच करने को शोक कहते हैं अथवा जो विषाद उत्पन्न करता है उसे शोक कहते हैं। जिन कर्म स्कन्धों के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उनकी शोक संज्ञा है। (ध. ६/४७) जब प्राणी हर एक बात से उदासीन हो जाता है, लम्बी-लम्बी सांस छोड़ता है, मन को नियन्त्रित नहीं कर पाता है फलतः मन सब तरफ से अव्यवस्थित होकर चक्कर काटता है, इन्द्रियाँ इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि वे अपना कार्य भी नहीं कर पाती हैं तथा बुद्धि विचार नहीं कर सकती है, तब समझिए कि उसके शोक नोकषाय का उदय है। (व.चा. ४/८७)

४९. प्रश्न : भय नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय है। (सर्वा. ७५०)

परचक्र के आगमनादि का नाम भय है। (ध. १३/३३६)

भीति को भय कहते हैं। उदय में आये हुए जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है उनकी कारण में कार्य के उपचार से 'भय' यह संज्ञा है। (ध. ६/४७) पर-चक्र के आगमनादि का नाम

भय है। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव के सात प्रकार का भय उत्पन्न होता है वह भयकर्म है। (ध. १३/३६१) जिसके कारण अनर्थ से डरे, वह भय है।

श्मशान, राजद्वार, अन्धकार आदि सात भय के स्थानों पर किसी साधारण से साधारण भय के कारण के उपस्थित होते ही कोई प्राणी एकदम काँपने लगता है, उसकी बोली बन्द हो जाती है या वह हकला-हकला कर बोलने लगता है, यह सब भय नोकषाय का ही प्रभाव है। (व.चा. ४/८६)

५०. प्रश्न : जुगुप्सा नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से अपने दोषों का आच्छादन करना हो (और अन्य के कुल, शील आदि में दोष प्रकट करना हो अथवा तिरस्कार व ग्लानि रूप भाव हों) वह जुगुप्सा नोकषाय है। (हरि. पु. ५८/२३६)

ग्लानि करना जुगुप्सा है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्य आदि में ग्लानि उत्पन्न होती है उनका जुगुप्सा यह नाम है। (मू. १२३५ आ.) जिसके उदय से अपने दोषों का संवरण (ढकना) और पर के दोषों का आविष्करण (प्रगट करना) होता है वह जुगुप्सा है। (सर्वा. ७५०)

कुत्सा या ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं।<sup>१</sup> तहाँ अपने दोषों को ढाँकना जुगुप्सा है और दूसरे के कुल-शील आदि में दोष लगाना, आक्षेप करना, जुगुप्सा है। जो पुण्यहीन व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों के परमप्रिय भोगों और उपभोगों की प्राप्ति करके भी उनसे घृणा करता है या ग्लानि का अनुभव करता है, समझिए उसे जुगुप्सा नोकषाय ने जोरों से दबा रखा है। (व.चा. ४/८८)

५१. प्रश्न : स्त्रीवेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दोषों से स्वयं अपने को और दूसरों को आच्छादित करती है वह स्त्री है और स्त्री रूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा- जो पुरुष की आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं। जिसका अर्थ पुरुष की चाह करने वाली होती है। जो अपने को स्त्री रूप अनुभव करती है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा वेदन करने को वेद कहते हैं और स्त्री रूप वेद को स्त्रीवेद कहते हैं। (ध. १/३४२) जिसके उदय से स्त्री-सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है। (सर्वा. ७५०) जिन कर्मस्कन्धों के उदय से पुरुष के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है, उन कर्मस्कन्धों की स्त्रीवेद यह संज्ञा है। (मू. १२३५ आ.)

जिस नोकषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, कामावेश, नेत्र-विभ्रम, आस्फालन, पुरुष की इच्छा आदि स्त्रीभावों को आत्मा प्राप्त होती है, वह स्त्रीवेद है। (रा.वा. ४)

पुरुषत्व के दर्शन होते ही जो जीव पुरुष को प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। स्त्रीवेदधारी जीव पुरुष को देखते ही ऐसा द्रवित हो उठता है जैसे कि लाख आग छुआते ही बह (पिघल) पड़ती है। (व.चा. ४/८९)

१. हास्य कषाय हास्य को, रति कषाय प्रीति को, अरति कषाय अप्रीति को, शोक रुदन को, भय भय को और जुगुप्सा ग्लानि जो पैदा करती है। (पं.सं. गाथा १५३)

५२. प्रश्न : लोक में मृदु स्तनादि चिह्न से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है ?

उत्तर : शरीर में जो स्तन, योनि आदि चिह्न हैं वे नामकर्म के उदय के कारण होते हैं अतः द्रव्य से पुरुष वेद का उदय होते हुए भी भाव से स्त्री वेद का या नपुंसक वेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय में भाव से पुंवेद अथवा नपुंसक वेद का तथा द्रव्य से नपुंसक वेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेद या पुंवेद का उदय हो सकता है। शरीर का आकार तो नामकर्म की रचना है और भाव-वेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है। (रा.वा. ४)

५३. प्रश्न : पुंवेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से स्त्री के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी पुंवेद संज्ञा है। (मू. १२३५) आ.

जिसके उदय से पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह पुंवेद है। (रा.वा. ४)

जिसके कारण अपने को पुरुष मानता हुआ स्त्री में रमण करने की इच्छा करता है वह पुंवेद है। स्त्री का साक्षात्कार होते ही जो जीव स्त्री को पाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, यह पुंवेद का ही कार्य है। पुरुषवेद युक्त प्राणी स्त्री को देखते ही वैसा ही पिघल जाता है जैसे जमे घी का घड़ा अग्नि के स्पर्श होते ही क्षण-भर में ही पानी-पानी हो जाता है। (व.चा. ४/९८)

५४. प्रश्न : नपुंसक वेद नोकषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से ईंट के अवे की अग्नि के सदृश दोनों (स्त्री-पुरुष) में आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसक वेद संज्ञा है। (मू.आ. १२३५) जिसके उदय से नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह नपुंसक वेद है। (सर्वा. ७५०)

जो भाव से न स्त्री रूप है और न पुरुष रूप है, तथा द्रव्य की अपेक्षा जो स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग से रहित है, ईंटों को पकाने वाली अग्नि के समान वेद की प्रबल वेदना से युक्त है और सदा क्लुषित चित्त है, उसे नपुंसक वेद जानना चाहिए। (पं.सं. १०७)

ईंटों के अवे के समान जब किसी प्राणी में काम उपभोग सम्बन्धी भयंकर विकलता होती है, तथा अत्यन्त निन्दनीय कुरूपपना होता है, समझिए यह सब नपुंसकवेद का ही परिपाक है। (व.चा. ४/९९)

(जिसके कारण अपने को नपुंसक मानता हुआ स्त्री और पुरुष इन दोनों पर भी आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसक वेद यह संज्ञा है।)

५५. प्रश्न : करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि, करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने में विरोध आता है तथा अकरुणा को संयमघाती कर्मों के फल रूप से स्वीकार किया गया है। (ध. १३/३६२)

आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ  
नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१० ॥

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ।

अर्थ - नारक, तिर्यञ्च, मानुष्य और दैव ये चार प्रकार की आयु हैं।

नरकायु - नारकियों में होने वाले भवधारण के कारण को नरकायु कहते हैं।

तिर्यगायु - तिर्यञ्च में होने वाले भवधारण के कारण को तिर्यञ्चायु कहते हैं।

मानुषायु - मनुष्य भव में होने वाले भवधारण के कारण को मानुषायु कहते हैं।

दैवायु - देव भव में होने वाले भवधारण के कारण को देवायु कहते हैं।

१. प्रश्न : आयु कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : आयु कर्म के सामान्य से दो भेद हैं।<sup>१</sup>

(१) भवायु (२) अब्दायु। (भ.आ.वि. २५)

आयु कर्म के चार भेद हैं-

(१) नरकायु (२) तिर्यगायु (३) मनुष्य आयु (४) देव आयु। (त.सू. ८/१०)

पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो आयु की प्रकृतियाँ भी असंख्यात लोकमात्र हैं। क्योंकि कर्म के उदय रूप विकल्प असंख्यात लोकमात्र पाये जाते हैं। (ध. १२/४८३)

२. प्रश्न : नरकायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके निमित्त से तीव्र शीत-उष्ण वेदनाकारक नरकों में भी दीर्घकाल तक प्राणी जीवित रहता है वह नरकायु है। (रा.वा. ५)

जिन कर्म स्कन्धों के उदय से तीव्र शीत-उष्ण वेदना से युक्त, अधोगति स्वभाव वाले नरकों में दीर्घकाल तक जीते हुए जीवों का जो अवस्थान होता है उनकी नरकायु संज्ञा है। (मू. १२३६) आ.

जो कर्म नरक भव को धारण कराता है, वह नरकायु कर्म है। (ध. १३/३६२) जो आत्मा को नारक शरीर में धारण कराता है वह नरकायुष्क है। (क.प्र. ६६) नरकायु कर्म के उदय से प्राणी अचिन्त्य वेदना वाले नरकों के बिलों में जिसके सुनने से करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पाँच प्रकार के दुःख भोगते हैं। (ज्ञा. ३५/२२)

३. प्रश्न : तिर्यगायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राणी तिर्यञ्च आयु के उदय से त्रस-स्थावर दो भेद रूप तिर्यञ्च गतियों में उत्पन्न होकर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं। (ज्ञा. ३५/२१)

जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि अनेक दुःखों के स्थानभूत तिर्यञ्च पर्याय में यह प्राणी जीवित रहता है, वा दुःख-कारक तिर्यञ्च पर्याय को धारण करता है उसे तिर्यग्योन की आयु जानना चाहिए। (रा.वा. ६)

जिन कर्मस्कन्धों के उदय से तिर्यञ्चभव में अवस्थान होता है वह तिर्यञ्चायु है। (मू. १२३६ आ.) जो जीव को तिर्यञ्च-शरीर में धारण कराता है, वह तिर्यगायुष है। (क.प्र. ६६ टी.) जो कर्म तिर्यञ्च भव को धारण कराता है, वह तिर्यञ्चायु कर्म है। (ध. १३/३६२)

४. प्रश्न : मनुष्यायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक, अत्यधिक सुख-दुःख से भरे हुए मानुष पर्याय में जन्म होता है वा जिसके उदय से प्राणी मानुष भव धारण करता है। वह मानुषायु कहलाती है। (रा.वा. ७)

जो कर्म मनुष्य भव को धारण कराता है, वह मनुष्यायु कर्म है। (ध. १३/३६२) जिन कर्मस्कन्धों के उदय से मानुष भव में अवस्थान होता है वह मानुषायु है। (मू. १२३६ आ.) प्राणी मनुष्यायु नामा कर्म के उदय योग से मनुष्यत्व को पाकर कुछ सुख-दुःख से व्याप्त है बुद्धि जिनकी ऐसे होकर नाना प्रकार के प्रपञ्चों से काल यापन करते हैं। (ज्ञा. ३५/२०)

५. प्रश्न : दैवायु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक सुख स्वरूप देव पर्याय में जन्म होता है वह दैवायु है। वा जिस कर्म के उदय से प्रायः कर शारीरिक-मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में जन्म होता है उसे दैवायु जानना चाहिए। (रा.वा. ८)

जिन कर्मस्कन्धों के उदय से देव भव में अवस्थान होता है वह दैवायु है। (मू. १२३६ आ.) दैवायु उत्पन्न करने वाले कर्म के उदय से प्राणी स्वर्ग में उत्पन्न होकर विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृत आस्वादन में आसक्त है चित्त जिसका ऐसा देव होकर स्वर्ग के सुख भोगता है। (ज्ञा. ३५/१९)

६. प्रश्न : क्या देवों में सुख-ही-सुख है ?

उत्तर : नहीं, देवों में कभी- कभी देवांगना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवों की महाविभूति को देखने से, देवपर्याय की समाप्ति के सूचक, आज्ञा-हानि, माला के मुरझाने, आभूषण एवं शरीर की कान्ति आदि की हीनता देखने से मानसिक दुःख होता है। (रा.वा. ८)

देवों को इन्द्र आदि महाऋद्धिधारी देवों की विक्रिया आदि ऋद्धियों को तथा सम्पदा को देखकर मानसिक दुःख होता है। इन्द्र आदि महाऋद्धि वाले देवों को पाँच इन्द्रियों के विषय सुख की तृष्णा से तथा प्रिय देवाङ्गना आदि के वियोग से दुःख होता है। जिन जीवों का सुख पाँच इन्द्रियों के स्पर्श आदि के अधीन है उनकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? तृप्ति न होने से भोगों की तृष्णा निरन्तर बनी रहती है जिसके कारण

वे सदा दुःखी रहते हैं।

यद्यपि देवों को शारीरिक दुःख प्रायः नहीं होते हैं क्योंकि उनके सुवैक्रियिक शरीर है किन्तु मानसिक दुःख होता है तथा शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख प्रचुर होता है। जिसको मानसिक दुःख या चिन्ता होती है उसको विषय भोग की सुखदायक सामग्री भी दुःखदायक लगती है। (का.अ. ५८-६१)

देवों का सुख उनकी नवशरीर विक्रिया आदि मनोहर विषयों के आधीन है, वह विषयसुख भी कालान्तर में द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से दुःख का कारण बन जाता है क्योंकि देवियों की लेश्या, आयु व बल देवों से भिन्न प्रकार के होते हैं। इसलिए वे देवाङ्गनाएँ कालान्तर में दुःखदायक बन जाती हैं। अन्य सुख-दायक इष्ट सामग्री का परिणमन भी इच्छानुसार नहीं होने से वह इष्ट सामग्री भी दुःख का कारण हो जाती है।

७. प्रश्न : इन आयुओं की नरकायु आदि संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : नरकादि भवों के सम्बन्ध से आयु भी नारक, तैर्यग्योन आदि कहलाती है। जैसे- नारक भव के सम्बन्ध से आयु में नारक व्यपदेश होता है और नरक में होने वाली आयु नरकायु कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यञ्च योनि में होने वाली तैर्यग्योन, मनुष्य में होने वाली मानुष और देवों में होने वाली दैवायु कहलाती है। (रा.वा. १)

८. प्रश्न : जीवन-मरण का कारण आयु है तो क्या अन्नादि जीवन का कारण नहीं है ?

उत्तर : नहीं, जीवन का मूल कारण आयु है, अन्नादि नहीं। क्योंकि अन्नादि आयु के अनुग्राहक (उपकार करने वाले) हैं। जैसे- घटादि की उत्पत्ति में मूलकारण मिट्टी का पिण्ड है और दण्डादि सहायक हैं उसी प्रकार भवधारण का मूल कारण आयु है और अन्नादि उसके उपग्राहक हैं। देव-नारकियों में अन्नादि का अभाव होने पर भी भव धारण होता है तथा अन्नादि के सन्निधान में भी क्षीण आयु वाले का मरण देखा जाता है, अतः अन्नादि भव-धारण का मूल कारण नहीं है। (रा.वा. ३-४)

**नाम कर्म**

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

गति-जाति-शरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगन्धवर्णानु-  
पूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येक शरीरत्रस-  
सुभग-सुस्वर शुभसूक्ष्म पर्याप्तिस्थिरादेययशः कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं  
च ॥११॥

गति-जाति-शरीर-अंगोपांग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-

१. भवायु - भवधारण में कारण आयुकर्म को भवायु कहते हैं।

अद्वायु - द्रव्य के स्थितिकाल को अद्वायु कहते हैं। (भ.आ.वि. २५)

आनुपूर्वी-अगुरुलघु-उपघात-परघात-आतप-उद्योत-उच्छ्वास-विहायोगतयः-प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिर-आदेय-यशःकीर्ति-स-इतराणि-तीर्थकरत्वं च ।

अर्थ - गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायो-गति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, तथा (सेतराणि) इनसे विपरीत साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति और तीर्थकर ये नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं।

**गति** - जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है।

**जाति** - गतियों में अव्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव को जाति कहते हैं।

**शरीर** - जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीर नाम कर्म है।

**अंगोपांग**-जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग की स्पष्ट रचना हो, वह अंगोपांग नामकर्म है।

**निर्माण**-जिस कर्म के उदय से दोनों प्रकार के अंग और उपांग निर्मित होते हैं वह निर्माण नामकर्म है।

**बन्धन** - उदयप्राप्त पुद्गल स्कन्धों का परस्पर संश्लेष सम्बन्ध होना शरीर बन्धन नामकर्म है।

**संघात** - शरीरों के परमाणुओं का परस्पर छिद्र रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूप हो जाना संघात नामकर्म है।

**संस्थान** - जिसके उदय से औदारिकादि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है।

**संहनन** - जिसके उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्ध विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है।

**स्पर्श**-जिसके उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है।

**रस** - जिसके उदय से जीव के शरीर में तिक्त आदि रस उत्पन्न होते हैं वह रस नामकर्म है।

**गन्ध** - जिसके उदय से जीव के शरीर में गन्ध उत्पन्न होती है वह गन्ध नामकर्म है।

**वर्ण** - जिसके उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्ण नामकर्म है।

**आनुपूर्वी** - जिसके उदय से विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है वह आनुपूर्वी नामकर्म है।

**अगुरुलघु**-जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा अगुरुलघुपना है, उन पुद्गल स्कन्धों की अगुरुलघु संज्ञा है।

**उपघात** - जिसके उदय से स्वयंकृत बन्धन हो वह उपघात नामकर्म है।

**परघात** - जिसके उदय से शरीर में परघात करने के कारणभूत पुद्गल निष्पन्न हों वह परघात नामकर्म है।



**आतप** - जिसके उदय से शरीर में आतप होता है वह आतप नामकर्म है।

**उद्योत** - जिसके उदय से शरीर में उद्योत (चमक) उत्पन्न हो वह उद्योत नामकर्म है।

**उच्छ्वास** - जिसके उदय से उच्छ्वास और निश्वास रूप कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है वह श्वासोच्छ्वास नामकर्म है।

**विहायोगति** - जिसके उदय से जीव का आकाश में गमन हो वह विहायोगति नामकर्म है।

**प्रत्येक शरीर**-जिसके उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

**त्रस** - जिसके उदय से जीव दो इन्द्रिय आदि जंगम जीवों में जन्म लेता है वह त्रस नामकर्म है।

**सुभग** - स्त्री-पुरुषों के सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला सुभग नामकर्म है।

**सुस्वर** - जिसके उदय से मधुर स्वर होता है वह सुस्वर नामकर्म है।

**शुभ** - जिसके उदय से रमणीयता होती है वह शुभ नामकर्म है।

**सूक्ष्म** - जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर की रचना होती है वह सूक्ष्म नामकर्म है।

**पर्याप्ति** - जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है वह पर्याप्ति नाम कर्म है।

**स्थिर** - स्थिर भाव का निवर्तक स्थिर नाम कर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है, वह स्थिर नामकर्म है।

**आदेय** - जिसके उदय से प्रभा से युक्त शरीर होता है वह आदेय नामकर्म है।

**यशस्कीर्ति** - जिसके उदय से पुण्य गुणों का ख्यापन हो वह यशस्कीर्ति नामकर्म है।

**साधारण** - जिसके उदय से एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है।

**स्थावर** - जिसके उदय से प्राणी स्थावर काय में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है।

**दुर्भग** - जिसके उदय से स्त्री और पुरुषों के दौर्भाग्य उत्पन्न होता है वह दुर्भग नामकर्म है।

**दुस्वर** - जिसके उदय से कर्कश स्वर की प्राप्ति होती है वह दुस्वर नामकर्म है।

**अशुभ** - जिसके उदय से अरमणीयता उत्पन्न होती है वह अशुभ नामकर्म है।

**बादर** - जिसके उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है वह बादर नाम कर्म है।

**अपर्याप्ति** - जिसके उदय से आहार आदि किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं होती है वह अपर्याप्ति नाम कर्म है।

**अस्थिर** - स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है।

**अनादेय** - जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है वह अनादेय नामकर्म है।

**अयशस्कीर्ति** - पाप, दोषों को ख्यापन करने वाली अयशस्कीर्ति है।

**तीर्थकर** - आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थकर कर्म प्रकृति है।

१. प्रश्न : नामकर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : शरीर संस्थान, वर्ण आदि कार्यों के भेद अन्यथा नहीं हो सकते हैं, इस अन्यथानुपपत्ति से नाम कर्म का अस्तित्व जाना जाता है। (ध. पु. ६/१३)

२. प्रश्न : नामकर्म की कितनी उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं ?

उत्तर : नामकर्म की बयालीस पिण्ड प्रकृतियाँ हैं-

(१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) शरीर बन्धन (५) शरीर संघात (६) शरीर संस्थान (७) शरीर अंगोपांग (८) शरीर संहनन (९) वर्ण (१०) गन्ध (११) स्पर्श (१२) रस (१३) आनुपूर्वी (१४) अगुरुलघु (१५) उपघात (१६) परघात (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) विहायोगति (२१) त्रस (२२) स्थावर (२३) बादर (२४) सूक्ष्म (२५) पर्याप्त (२६) अपर्याप्त (२७) प्रत्येक शरीर (२८) साधारण शरीर (२९) स्थिर (३०) अस्थिर (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग (३५) सुस्वर (३६) दुःस्वर (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यशः कीर्ति (४०) अयशःकीर्ति (४१) निर्माण (४२) तीर्थकर। (ध. ६/५०)

नामकर्म की असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ हैं। (ध. १२/४८३) कारण के बिना कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। और पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसकायिक आदि (जीवों में उनकी उक्त पर्यायों रूप) अनेक कार्य देखे जाते हैं। इसलिए जितने कार्य हैं उतने उनके कारण रूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। (ध. ७/७०)

जीव के शारीरिक आकार-प्रकारों का निर्माता नामकर्म दो प्रकार का है।

(१) शुभ और (२) अशुभ।

नाम कर्म के मुख्य भेदों की अपेक्षा बयालीस भेद होते हैं।

अवान्तर भेदों की अपेक्षा तेरानवे भेद हो जाते हैं। (व.चा. ४/३५)

पिण्ड और अपिण्ड प्रकृति के भेद से नाम कर्म बयालीस प्रकार का है। (क.प्र. ६६)

३. प्रश्न : नाम कर्म की पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : पिण्ड प्रकृतियाँ चौदह हैं- १. गति २. जाति ३. शरीर ४. बन्धन ५. संघात ६. संस्थान

७. अंगोपांग ८. विहायोगति ९. संहनन १०. वर्ण ११. गन्ध १२. रस १३. स्पर्श १४. आनुपूर्वी। अपिण्ड प्रकृतियाँ अट्टाईस हैं- १. अगुरुलघु २. उपघात ३. परघात ४. उच्छ्वास ५. आतप ६. उद्योत ७. त्रस ८. स्थावर ९. बादर १०. सूक्ष्म ११. पर्याप्त १२. अपर्याप्त १३. प्रत्येक शरीर १४. साधारण शरीर १५. स्थिर १६. अस्थिर १७. शुभ १८. अशुभ १९. सुभग २०. दुर्भग २१. सुस्वर २२. दुःस्वर २३. आदेय २४. अनादेय २५. यशःकीर्ति २६. अयशःकीर्ति २७. निर्माण एवं २८. तीर्थकर। (क.प्र. १५-१८)

४. प्रश्न : गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : गति कर्मोदय जनित पर्याय 'गति' है अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। (गो.जी. १४६)

जहाँ गमन किया जाय वह गति है इस प्रकार निरुक्ति अर्थ करने पर ग्राम-नगरादि स्थानों को भी गति मानने का प्रसंग आता है क्योंकि रूढ़ि के बल से गति नाम कर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की जाती है उसमें गति शब्द का प्रयोग किया जाता है। गति नाम कर्म के उदयाभाव के कारण सिद्धगति अगति कहलाती है। (ध. ७/६)

गति नामकर्म से जो चेष्टा विनिवृत्त की जाती है उसको गति जानना चाहिए अथवा - जिसके निमित्त से चतुर्गति में जाते हैं, वह गति है। (पं.सं. १/५९) गति, भव और संसार एकार्थवाची हैं। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है। जिस कर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उसे गति कहते हैं। मिथ्यात्वादि कारणों से कर्म अवस्था को प्राप्त जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से वह अवान्तर-गमनरूप अवस्था होती है उसका गति नाम सार्थक है। (मू. १२३६ आ.)

नोट : यदि गति नाम कर्म न हो तो जीव गतिरहित हो जायेगा। (मू. १२३६) आ. ।

५. प्रश्न : गति नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : गति नाम कर्म चार प्रकार का है-

(१) नरकगति (२) तिर्यञ्च गति (३) मनुष्य गति (४) देवगति। (सर्वा. २६५)

गति नाम कर्म सामान्य से एक प्रकार का है।

गति नाम कर्म दो प्रकार का है- सिद्ध गति और असिद्ध गति।

गति नाम कर्म तीन प्रकार का है- देवगति, अदेवगति और सिद्ध गति।

गति नाम कर्म के चार भेद हैं- नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्य गति और देवगति।

गति नाम कर्म के पाँच भेद हैं- नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्ध गति।

इस तरह गति समास अनेक भेदों से भिन्न है।

अथवा - गति नाम कर्म के आठ भेद हैं-

मनुष्यनी, मनुष्य, नारक, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, योनिनी, देव, देवियाँ और सिद्ध। (ध. ७/५२०-२२)

६. प्रश्न : नरक गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में तथा एक-दूसरे में रत नहीं हैं, जो हिंसादि असमीचीन कार्यों में व्यापृत रहते हैं उन्हें निरत कहते हैं और उनकी गति को निरतगति कहते हैं। अथवा- जो नर अर्थात् प्राणियों को काता (पीड़ा) देता है, पीसता है वह नरक है।

नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है वे नारक हैं और उनकी गति नारक गति है अथवा-

जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारी कारण है वह नरक गति है। जो परस्पर प्रीति नहीं रखते हैं वे नरता हैं और उनकी गति नरत गति है। (ध. १/२०२-२०३)

द्रव्य - खाद्य व पेय पदार्थ।

क्षेत्र - भूतल आदि स्थान।

काल-उस गति सम्बन्धी प्रथम समय से लगा कर अन्तिम समय आयु पर्यन्त का समय काल है।

भाव - चैतन्य के पर्याय रूप भाव है। (गो.जी.जी. १४७)

‘निर्गत’ कहिये गया है ‘अयः’ पुण्य कर्म जिनसे ऐसे जो निरय, तिनकी गति सो निरय गति जानना चाहिए। (गो.जी.जी. १४७)

७. प्रश्न : तिर्यञ्च गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहारादि की संज्ञा सुव्यक्त (सबके सामने प्रकट) है, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके पाप की बहुलता पायी जाती है वे तिर्यञ्च कहे जाते हैं। (गो.जी. १४८) समस्त जाति के तिर्यञ्चों में उत्पत्ति का जो कारण है वह तिर्यञ्च गति है अथवा तिर्यञ्च गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए तिर्यञ्च पर्यायों का समूह तिर्यञ्च गति है। अथवा - तिरस्, वक्र, कुटिल ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अतः जो कुटिल भाव को प्राप्त होते हैं वे तिर्यञ्च हैं, तिर्यञ्चों की गति तिर्यञ्चगति है। (ध. १/२०३)

८. प्रश्न : मनुष्य गति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव निरन्तर हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त तथा धर्म-अधर्म के विषय में विचार करके निश्चय करते हैं, अवधारण करते हैं, आचरण करते हैं, सूक्ष्म रहस्य को जानते हैं, दूरदर्शी

हैं वे मनुष्य हैं अथवा जब भोग भूमि का काल समाप्त होने लगा और कर्म भूमि का काल प्रारम्भ होने लगा तब प्रतिश्रुति प्रथम मनु से लेकर भरत चक्रवर्ती पर्यन्त सोलह मनु युग की आदि में हुए जिन्होंने उस समय की कठिनाइयों को दूर करने का उपाय प्रजा को बतलाया और 'जीवन सुख रूप रहे' ऐसा उपदेश दिया, इसलिए वे पिता के तुल्य हुए। कर्म-भूमि में जो मनुष्य हैं वे सब उनकी संतान हैं, मनु की सन्तान होने के कारण उनकी भी मनुष्य संज्ञा है। (गो. जी. मन्द. १४९)

जो मनुष्य को सम्पूर्ण पर्यायों में उत्पन्न कराता है, उसे मनुष्य कहते हैं। अथवा मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायों के समूह को कार्य में कारण के उपचार से मनुष्यगति कहते हैं अथवा जो मन से निपुण हैं या उत्कट अर्थात् सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोग से युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गति को मनुष्यगति कहते हैं। (ध. १/२०३-०४)

९. प्रश्न : देवगति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो देव पर्याय के कारण अणिमा आदि आठ गुणों के द्वारा क्रीड़ा करते हैं, तीनों लोक में परिवार सहित बिना रुकावट के विहार करते हैं, पंच परमेष्ठी की स्तुति करते हैं, सदा पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों से सुखी रहते हैं, रूप, लावण्य और यौवन से जिनका वैक्रियिक शरीर जाज्वल्यमान रहता है वे जीव देव हैं। (गो.जी. १५१ मन्द.) इन देवों की गति को देवगति कहते हैं। जो अणिमादि आठ ऋद्धियों की प्राप्ति के बल से क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं और देवों की गति को देवगति कहते हैं।

अथवा-

जो अणिमादि ऋद्धियों से युक्त देव इस प्रकार के शब्द, ज्ञान और व्यवहार में कारणभूत पर्याय का उत्पादक है, ऐसे देवगति नाम कर्म के उदय को देवगति कहते हैं। (ध. १/२०४) अथवा - देवगति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को कार्य में कारण के उपचार से देवगति कहते हैं। (ध. १/२०४) जो दिव्य स्वरूप अणिमादि आठ गुणों के द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं और जिनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिए उन्हें देव कहते हैं। (गो.जी. १५१)

जो देवगति में होने वाले या पाये जाने वाले परिणामों, परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा-महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूप से विहार करते हैं और रूप लावण्य यौवन आदि से जिनका वैक्रियिक शरीर सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागम में देव कहा है। (गो.जी. १५१ मन्द.)

१०. प्रश्न : सिद्ध गति किसे कहते हैं?

उत्तर : एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, इनसे होने वाले दुःख, आहारादि विषयक संज्ञाएँ- वा ज्छाएँ और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गति में नहीं पाये जाते, उसको सिद्ध गति कहते हैं। (गो.जी. १५२)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्त सुख रूपी अमृत के अनुभव करने वाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबंध को कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं, नित्य हैं, सम्यकत्वादि आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। उनकी गति को सिद्धगति कहते हैं। (गो.जी. ६८)

**११. प्रश्न : जाति नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** नरकादि गतियों में अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश एकीकृत भाव जाति नामकर्म है। (रा.वा. २) जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भाव का बनाने वाला है वह जाति नाम कर्म है। (ध. १३/३६३)

जिस कर्मस्कन्ध से जीवों के अत्यन्त सदृशता उत्पन्न होती है, वह कर्मस्कन्ध कारण में कार्य के उपचार से 'जाति' इस नाम वाला कहलाता है। (ध. ६/५१)

उन नरकादि गतियों में जिस अव्यभिचारी सादृश से एकपने का बोध होता है वह जाति है और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। (सर्वा. ७५५)

**१२. प्रश्न : जाति नामकर्म कितने प्रकार का होता है?**

**उत्तर :** जाति नामकर्म पाँच प्रकार का है-

(१) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म (२) द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म (३) त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म (४) चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म (५) पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म। (रा.वा. २)

**१३. प्रश्न : एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?**

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों के साथ एकेन्द्रिय भाव से सादृशता होती है वह एकेन्द्रिय नामकर्म कहलाता है।

वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म भी अनेक प्रकार का है। यदि ऐसा न माना जाय तो जामुन, नीम, आम, नींबू, कदम्ब, इमली, शाली, धान्य, जौ और गेहूँ आदि जातियों का भेद नहीं हो सकता है। (ध.६/६७-६८)

**१४. प्रश्न : द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?**

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से जीवों की द्वीन्द्रियत्व की अपेक्षा समानता होती है वह द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म कहलाता है। वह भी अनेक प्रकार का है, अन्यथा शंख, मातृवाह, क्षुल्लक, वराटक (कौड़ी), अरिष्ठ, शुक्ति (सीप), गंडोला, और कुक्षि-कृमि (पेट में उत्पन्न होने वाला कीड़ा) आदि जातियों का भेद नहीं बन सकता है। (ध. ६/६८)

**१५. प्रश्न : त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?**

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की त्रीन्द्रिय भाव की अपेक्षा समानता होती है वह त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म है। वह भी अनेक प्रकार का है अन्यथा कुन्थु, मत्कुण (खटमल), जूं, बिच्छू, गोम्ही, इन्द्रगोप और पिपीलिका आदि का भेद नहीं हो सकता। (ध. ६/६८)

१६. प्रश्न : चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की चतुरिन्द्रिय भाव की अपेक्षा समानता होती है वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है। वह कर्म अनेक प्रकार का है, अन्यथा भ्रमर, मधुकर, शलभ, पतंग, दंशमशक और मक्खी आदि जातियों का भेद नहीं हो सकता है। (ध. ६/६८)

१७. प्रश्न : पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म किसे कहते हैं एवं उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से जीवों की पंचेन्द्रियपने की अपेक्षा समानता होती है, वह पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म है। वह कर्म अनेक प्रकार का है, अन्यथा देव, नारकी, सिंह, अश्व, हस्ती, वृक, व्याघ्र और चीता आदि जातियों का भेद बन नहीं सकता। (ध. ६/६८)

१८. प्रश्न : यदि पारिणामिक (परिणामन कराने वाले) कारण के सदृश परिणाम नहीं होता है, तो सदृश परिणाम रूप कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, इस अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से उसके कारणभूत कर्म का अस्तित्व भले ही सिद्ध होवे। किन्तु गंगा नदी की बालुका आदि में पारिणामिक सदृश परिणाम पाया जाता है, इसलिए हेतु के अनेकान्तिक होने से सदृश परिणाम अपने कारणीभूत कर्म के अस्तित्व को नहीं सिद्ध करता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, गंगानदी की बालुका के पृथिवीकायिक नाम-कर्म के उदय से सदृश परिणामता मानी गयी है। दूसरी बात यह है कि यदि जीव के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धों का सदृश परिणाम पारिणामिक भी हो, तो हेतु अनैकान्तिक होवे। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का अनुपलम्भ (प्राप्ति नहीं) है। यदि जीवों का सदृश परिणाम कर्म के अधीन न होवे, तो चतुरिन्द्रिय जीव घोड़ा, हाथी, भेड़िया, बाघ और छवल्ल आदि के आकार वाले हो जायेंगे। तथा पंचेन्द्रिय जीव भी भ्रमर, मत्कुण, शलभ, इन्द्रगोप, क्षुल्लक, अक्ष और वृक्ष आदि के आकार वाले हो जायेंगे। किन्तु इस प्रकार है नहीं, क्योंकि इस प्रकार के वे पाये नहीं जाते तथा प्रतिनियत सदृश परिणामों में अवस्थित वृक्ष आदि पाये जाते हैं। इसलिए जीवों का सदृश परिणाम पारिणामिक नहीं है, यह सिद्ध हुआ (ध. ६/५१-५२)

१९. प्रश्न : जाति नाम कर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जाति नाम कर्म न हो तो खटमल-खटमलों के साथ, बिच्छू बिच्छुओं के साथ, धान्य-धान्य के साथ और शाली-शाली के साथ समान नहीं होंगे, किन्तु इनमें परस्पर सदृशता दिखाई देती है। (मू. १२३६ आ.)

२०. प्रश्न : शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम कर्म है। (रा.वा. ३) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध शरीर के योग्य परिणाम से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्धित होते हैं, उसकी शरीर संज्ञा है। (मू. १२३६ आ.)

जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उस कर्म स्कन्ध की शरीर यह संज्ञा है। (ध. ६/५२)

२१. प्रश्न : शरीर नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : शरीर नाम कर्म पाँच प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर नामकर्म (३) आहारक शरीर नामकर्म (४) तैजस शरीर नामकर्म (५) कार्मण शरीर नामकर्म। (मू. १२३६)

२२. प्रश्न : यदि शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि शरीर नामकर्म जीव के न हो, तो जीव के अशरीरता का प्रसंग आता है। शरीर रहित होने से अमूर्त आत्मा के कर्मों का होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि मूर्त पुद्गल और अमूर्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है। अमूर्त आत्मा और मूर्त पुद्गल का सम्बन्ध नहीं हो तो कोई हानि नहीं है, ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि वैसा मानने पर सभी संसारी जीवों के सिद्धों के समान होने की आपत्ति से संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। (ध. ६/५२) यदि शरीर नाम कर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जायेगा। (मू. १२३६ आ.)

२३. प्रश्न : अंगोपांग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से सिर, पीठ, जांघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर इन आठ अंगों की तथा ललाट, नासिका, आँख, अंगुलि आदि उपांगों की रचना होती है, विवेक (विभाजन) होता है उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं। (रा.वा. ४) जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की निष्पत्ति होती है उस कर्मस्कन्ध का शरीर अंगोपांग यह नाम है। (ध. ६/५४)

२४. प्रश्न : अंगोपांग नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अंगोपांग नाम कर्म तीन प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर अंगोपांग (२) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग (३) आहारक शरीर अंगोपांग। (रा.वा. ४)



नोट : तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते हैं, क्योंकि उनके हाथ, पाँव, गला आदि अवयवों का अभाव है। (ध. ६/७३)

२५. प्रश्न : औदारिकादि अंगोपांग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके निमित्त से औदारिक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह औदारिक शरीर अंगोपांग है।

जिसके निमित्त से वैक्रियिक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म है।

जिसके निमित्त से आहारक शरीर में अंगोपांग की रचना होती है वह आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म है। (रा.वा.४)

२६. प्रश्न : शरीर में अंग और उपांग कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : शिर में मूर्धा, कपाल, मस्तक, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आँख, अक्षिकूट, हनु (ठोड़ी), कपोल, ऊपर और नीचे के ओष्ठ, सूक्वणी (चाप) तालु और जीभ आदि उपांग हैं। तथा शरीर में दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तक ये आठ अंग हैं। (ध. पु. ६/५४)

मस्तक की हड्डी, मस्तक, ललाट, भुजसन्धि, कान, नाक, नेत्र, अक्षिकूप, टुड्डी, गाल, ओंठ, ओंठ के किनारे, तालु, जीभ, गर्दन, स्तन-चूचुक, अंगुलि आदि उपांग हैं। (मू. १२३६ आ.)

नलक, हाथ, पैर, पेट, नितम्ब, छाती, पीठ और शिर ये शरीर के आठ अंग हैं। (मू. १२३६ आ.)

२७. प्रश्न : निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके द्वारा जाति कर्म के अनुसार इन्द्रियों के आकार, तद्-तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनकी रचना की जाती है वह निर्माण नाम कर्म है। (रा.वा. ५) जिस कर्म के उदय से जीवों के दोनों प्रकार के निर्माण होते हैं, उस कर्म की निर्माण संज्ञा है। (ध. पु. ६/६६)

नियत-निश्चित, मान-माप को निर्माण कहते हैं। जिस कर्म के उदय से दोनों निमान होते हैं वह निमान नामकर्म है। (मू. १२३९) आ.

२८. प्रश्न : निर्माण नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : निर्माण नामकर्म दो प्रकार का है-

(१) प्रमाण निर्माण (२) स्थान निर्माण। (रा.वा. ५)

२९. प्रश्न : प्रमाण निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जाति नामकर्म के उदय की अपेक्षा नेत्रादि का आश्रय करके यथाप्रमाण हो, वह प्रमाण निर्माण नाम कर्म है। (गो.क.जी. ३३) जाति नामकर्म की सहायता से जो नाक, कान आदि की, योग्य लंबाई, चौड़ाई आदि का प्रमाण लिये रचना करता है सो प्रमाण निर्माण नामकर्म है। (हरि. पु. ५८/२४९)

काल को और जाति को आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला प्रमाण निर्माण नामकर्म है। (ध. ६/६६)

**३०. प्रश्न :** स्थान निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा नेत्रादिक जिस स्थान पर होने चाहिए उसी स्थान पर हों वह स्थाननिर्माण नामकर्म है। (गो.क.जी. ३३)

कान, आँख, नाक आदि अंगों का अपनी जाति के अनुरूप अपने-अपने स्थान पर जो नियामक कर्म है, वह संस्थान निर्माण नामकर्म कहलाता है। (ध. ६/६६) जाति नामकर्म के उदय की सहायता से जो नाक, कान आदि को योग्य स्थान में निर्माण करता है वह स्थान निर्माण नामकर्म है। (हरि. पु. ५८-२४९)

**३१. प्रश्न :** यदि निर्माण नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** यदि प्रमाण निर्माण नामकर्म न हो तो जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोक के अन्त तक फैलने वाले हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकार से पाया नहीं जाता है। यदि संस्थान निर्माण नाम कर्म न हो तो अंग, उपांग और प्रत्यंग संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जावेंगे किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। (ध. ६/६६)

यदि यह (निर्माण) कर्म न हो तो आत्मा कान, नेत्र, नाक आदि अवयवों का अपनी जाति के अनुरूप स्थान का और प्रमाण का नियम न बन सकेगा। (मू. १२३९ आ.)

**३२. प्रश्न :** बन्धन नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए पुद्गलों का अन्योन्य प्रदेश-संश्लेष जिसके निमित्त से होता है वह बन्धन नामकर्म है। (सर्वा. ७५५)

शरीर के लिए आये हुए, जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धों का जिन जीव सम्बद्ध और उदयप्राप्त पुद्गलों के साथ परस्पर बन्ध किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धों की 'शरीर बन्धन' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से अथवा कर्तृ निर्देश से है। (ध. ६/५२-५३) शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है वह बन्धन नाम कर्म कहलाता है। यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है। (रा.वा. ६)

**३३. प्रश्न :** बन्धन नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : बन्धन नाम कर्म पाँच प्रकार का होता है-

(१) औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर बन्धन नाम कर्म (३) आहारक शरीर बन्धन नाम कर्म (४) तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म (५) कार्माण शरीर बन्धन नाम कर्म। (मू. १२३६ आ.)

औदारिक बन्धन नामकर्म - जिसके उदय से औदारिक बन्धन हो वह औदारिक बन्धन नामकर्म है।

नोट : इसी प्रकार वैक्रियिक आदि बन्धन नामकर्म के उदय से वैक्रियिक आदि बन्धन होते हैं। (हरि. पु. ५८/२५०)

३४. प्रश्न : यदि बन्धन नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीर के प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे। (रा.वा. ६)

यदि शरीर बन्धन नाम कर्म जीव के न हो तो बालुका द्वारा बनाये गये पुरुष शरीर के समान जीव का शरीर होगा, क्योंकि परमाणुओं का परस्पर बन्धन नहीं है। (ध. ६/५३)

३५. प्रश्न : संघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट संगठन हो जाता है वह संघात नामकर्म है। (रा.वा. ७)

जिसके उदय से औदारिक आदि पाँच शरीरों के प्रदेशों में से अपने-अपने शरीर के प्रदेश परस्पर में अन्योन्य प्रवेश स्वरूप तथा छिद्र रहित एकत्व सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह संघात नाम कर्म है। (सुख बो. त. वृ. ४८०)

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणुओं का परस्पर में छिद्र-रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूपता आ जावे उसे संघात नामकर्म कहते हैं। (मू. १२३६) आ. ।

३६. प्रश्न : संघात नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संघात नाम कर्म पाँच प्रकार का है-

(१) औदारिक शरीर संघात नामकर्म (२) वैक्रियिक शरीर संघात नामकर्म (३) आहारक शरीर संघात नामकर्म (४) तैजस शरीर संघात नामकर्म (५) कार्माण शरीर संघात नामकर्म। (मू. १२३६) आ. ।

औदारिक शरीर : संघात जिसके उदय से औदारिक शरीर में छिद्र रहित संधियाँ (जोड़) हों वह औदारिक संघात है।

इसी प्रकार जिसके उदय से वैक्रियिक संघात आदि हों उन्हें वैक्रियिक संघात आदि नामकर्म जानना चाहिए। (हरि. पु. ५८/२५१)

३७. प्रश्न : संघात नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि संघात नामकर्म न हो तो जीव का शरीर तिल के लड्डू के समान हो जावे। (मू. १२३६ आ.) यदि शरीर संघात नामकर्म जीव के न हो, तो तिल के मोदक के समान अपुष्ट शरीर वाला जीव हो जावे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि तिल के मोदक के समान संश्लेष रहित परमाणुओं वाला शरीर नहीं पाया जाता है। (ध. ६/५३)

३८. प्रश्न : संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति नामकर्म के उदय से परतन्त्र जिन कर्म स्कन्धों के उदय से शरीर का आकार बनता है वह शरीर संस्थान नामकर्म है। (ध. ६/५३)

३९. प्रश्न : संस्थान नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संस्थान नामकर्म छह प्रकार का होता है-

(१) समचतुरस्र संस्थान (२) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (३) स्वाति संस्थान (४) कुब्जक संस्थान (५) वामन संस्थान (६) हुण्डक संस्थान। (रा.वा. ८)

४०. प्रश्न : समचतुरस्र संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : चतुर का अर्थ शोभन है, सब ओर से चतुर समचतुर कहलाता है। समान मान और उन्मान वाला, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। समचतुर ऐसा जो शरीर संस्थान वह समचतुरस्रसंस्थान है। उस संस्थान के निर्वर्तक कर्म की भी कारण में कार्य से यही संज्ञा है। (ध. १३/३६८)

ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों का सन्निवेश होना, आकार बनना समचतुरस्र संस्थान नामकर्म है। (रा.वा. ८)

समान चौकोन वस्तु के समान समचतुरस्र है। यह कर्म शरीर के सभी अवयवों को समप्रमाण उत्पन्न करने वाला है। (मू. १२३६) आ.

इससे सुन्दर शरीर-रचना होती है। इससे शरीर की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई हीनाधिक नहीं होती, सम विभक्त होती है। (चारों ओर से मनोहर अंगोपांग का समान विभाजन इसी से होता है)। (म.पु. १५/३३)

४१. प्रश्न : न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं। उसके सघन घेरे के समान जिसका आकार हो वह न्यग्रोध परिमण्डल है। जिसके नाभि के ऊपर के सभी अवयवों में बहुत परमाणु रहते हैं ऐसा वटवृक्ष के आकार सदृश न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है, यह आयतवृत्त के समान है। (मू. १२३६) आ.

न्यग्रोध का अर्थ वट का वृक्ष है और परिमण्डल का अर्थ सब ओर का मण्डल। न्यग्रोध के परिमण्डल के समान जिस शरीर संस्थान का परिमण्डल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर संस्थान है। जो शरीर नीचे सूक्ष्म और ऊपर विशाल होता है वह न्यग्रोधपरिमण्डल शरीर संस्थान है। कार्य में कारण के उपचार के कारण इस कर्म की यह संज्ञा है। (ध. १३/३६८)

४२. प्रश्न : स्वाति संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : न्यग्रोध से उल्टा ऊपर लघु और नीचे भारी, बांम्बी की रचना समान स्वाति संस्थान है। (रा.वा. ८) स्वाति नाम बल्मीक या शाल्मलि वृक्ष का है। उसके आकार के समान आकार जिस शरीर का है, वह स्वाति संस्थान है। (ध. ६/७१)

स्वाति शब्द का अर्थ बामी अथवा शाल्मलि वृक्ष है, उसके आकार के सदृश जिसका आकार हो वह स्वाति संस्थान है। इसमें नाभि के नीचे के अवयव बड़े होते हैं और ऊपर के अवयव छोटे होते हैं। (मू. १२३६) आ.

४३. प्रश्न : कुब्जक संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुब्ज-कुबड़े का शरीर कुब्ज शरीर है। उसके आकार के समान जिसका आकार हो, वह कुब्जक संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घ है वह कुब्ज शरीर संस्थान नामकर्म है। (मू. १२३६) आ.

कुबड़े शरीर को कुब्ज शरीर कहते हैं। उस कुब्ज शरीर के संस्थान के समान संस्थान जिस शरीर का होता है, वह कुब्ज शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं की दीर्घता और मध्य भाग की ह्रस्वता होती है उसकी कुब्ज शरीर संस्थान यह संज्ञा है। (ध. ६/७१)

४४. प्रश्न : वामन संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : सभी अंग-उपांगों को छोटा बनाने में कारणभूत वामन संस्थान है। (रा.वा. ८) बौने के शरीर को वामन शरीर कहते हैं। वामन शरीर के संस्थान के समान संस्थान जिसमें होता है वह वामन शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से शाखाओं के ह्रस्वता और शरीर के दीर्घता होती है वह वामन शरीर संस्थान नाम कर्म है। (ध. ६/७१) वामन का शरीर वामन शरीर है। उसका संस्थान वामन संस्थान है। इस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घता और शरीर में ह्रस्वपना रहता है। (मू. १२३६) आ.

४५. प्रश्न : हुण्डक संस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषम (समानता रहित) अनेक आकार वाले पाषाणों से भरी हुई मशक के समान सर्व ओर से विषम आकार को हुण्ड कहते हैं। हुण्ड के शरीर को हुण्डक शरीर कहते हैं। उसके संस्थान के समान संस्थान जिसके होता है उसका नाम हुण्ड शरीर संस्थान है। जिस कर्म के उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों से व्यतिरिक्त, इकतीस भेद भिन्न अन्य संस्थान उत्पन्न होता है, वह शरीर हुंड संस्थान संज्ञा वाला है। ऐसा

जानना चाहिए। (ध. ६/७२) विषम पत्थरों से भरे हुए पर्वत के समान जिसका विषम-हुण्ड आकार हो वह हुण्डक शरीर संस्थान है। इसके उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों के अतिरिक्त बीभत्स संस्थान होता है। (मू. १२३६) आ.

सर्व अंगों और उपांगों की बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना हुण्डक संस्थान है। (रा.वा. ८)

४६. प्रश्न : इकतीस प्रकार का हुण्डक संस्थान कौन-कौनसा है ?

उत्तर : सर्व अवयवों में नियत स्वरूप वाले पाँच संस्थानों में से दो, तीन, चार व पाँच संस्थानों के संयोग से हुण्ड संस्थान अनेक भेद भिन्न उत्पन्न होता है। इस निर्देश के आधार से हुण्ड संस्थान को ध्रुव मानकर हुण्ड संस्थान के द्विसंयोगी आदि भंग कुल मिलकर इकतीस उत्पन्न होते हैं जो इस प्रकार हैं-

द्विसंयोगी- पाँच, त्रिसंयोगी  $(\frac{५ \times ४}{१ \times २}) =$  दस, चतुः संयोगी  $\frac{५ \times ४ \times ३}{१ \times २ \times ३} =$  दस, पंच

संयोगी  $\frac{५ \times ४ \times ३ \times २}{१ \times २ \times ३ \times ४} =$  पाँच, छह संयोगी,  $\frac{५ \times ४ \times ३ \times २ \times १}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५} =$  एक।

इस प्रकार हुण्ड संस्थान के समस्त संयोगी भंग =  $५ + १० + १० + ५ + १ = ३१$  होते हैं। (ध. ६/७२)

४७. प्रश्न : एकेन्द्रिय जीवों के छहों संस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि प्रत्येक अवयव से प्ररूपित लक्षण वाले पाँच संस्थानों को समूह रूप से धारण करने वाले एकेन्द्रिय के पृथक्-पृथक् छह संस्थानों का विरोध है। (ध. ६/११२)

४८. प्रश्न : विकलेन्द्रियों के एक हुण्डक संस्थान कैसे हो सकता है क्योंकि उनके छहों संस्थान पाये जाते हैं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सर्व अवयवों में नियत स्वरूप वाले पाँच संस्थानों के होने पर दो, तीन, चार और पाँच संस्थानों के संयोग से हुण्डक संस्थान अनेक भेद-भिन्न उत्पन्न होता है। वे पाँच संस्थान प्रत्येक अवयव के प्रति इस प्रकार के आकार वाले होते हैं। यह नहीं जाना जाता है, क्योंकि आज उस प्रकार के उपदेश का अभाव है और उन संयोगी भेदों के नहीं ज्ञात होने पर इन जीवों के 'अमुक संस्थानों के संयोगात्मक ये भंग हैं', यह नहीं जाना जा सकता है अतएव सभी विकलेन्द्रिय जीव हुण्डक संस्थान वाले होते हुए भी आज नहीं जाने जाते हैं, यह बात सिद्ध हुई। (ध. ६/१०८)

४९. प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौन-सा संस्थान होता है ?

उत्तर : भवनवासी आदि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सभी देवों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है। (गो.क. ३०४) भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है। (गो.क. ३०३) सातों नरकों के नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होता है। (गो.क. २९१)

तिर्यञ्च अपर्याप्त एवं मनुष्य अपर्याप्त के एक हुण्डक संस्थान होता है। (गो.क. २९७-३०१) एकेन्द्रिय, विकलत्रयों के एक हुण्डक संस्थान है। (गो.क. ३०७-९) सामान्य मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय

तिर्यञ्चों के छहों संस्थान होते हैं। (गो.क. २९८, २९४) तेरहवें गुणस्थान तक छहों संस्थान का उदय भजनीय है। (गो.क. २७१) तीर्थकर के जीव बालक के समचतुरस्र संस्थान होता है। (जन्मातिशय) तीर्थकर, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती के नियम से समचतुरस्र संस्थान होता है। (ति.प. ४/१३८१)

५०. प्रश्न : बन्धन, संघात और संस्थान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं- मिल जाते हैं, वह औदारिक बन्धन नामकर्म है और इस बन्धन नामकर्म के उदय से एकरूप बन्धन से बँधे हुए शरीर भाव को प्राप्त हुए परमाणुओं का जिस कर्म के उदय से औदार्य-चिकने रूप से एकमेक हो जाते हैं, वह औदारिक संघात नामकर्म है, और जिस कर्म के उदय से शरीर स्कन्धों की आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है। इस प्रकार इनमें महान् अन्तर है। अर्थात् बन्धन नाम कर्म के उदय से परमाणु मिल जाते हैं परन्तु तिल के लड्डू के समान छिद्र सहित रहते हैं, संघात के उदय से वे चिकने आटे के लड्डू के समान सर्वत्र एकमेक हो जाते हैं, जबकि संस्थान नामकर्म शरीर का आकार बनाता है। इसी प्रकार सब शरीरों के बारे में जानना चाहिए। (मू. १२३६ आ.)

५१. प्रश्न : संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। (रा.वा. ९)

जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की निष्पत्ति होती है वह शरीर संहनन नामकर्म है। (ध. १३/३६४)

जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्ध विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। (मू. १२३७ आ.)

जिसके उदय से अस्थि पंजर आदि के बन्धनों में विशेषता हो वह संहनन नामकर्म है। (हरि. पु. ५८/१५४)

५२. प्रश्न : संहनन कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : संहनन छह प्रकार के होते हैं-

(१) वज्रवृषभनाराच संहनन (२) वज्र नाराच संहनन (३) नाराच संहनन (४) अर्ध नाराच संहनन (५) कीलक संहनन (६) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। (रा.वा. ९)

५३. प्रश्न : वज्रवृषभनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अस्थि समूह और स्नायुवेष्टन वज्र के समान अभेद्य हों और

नाराच-कीली भी वज्र की हों, अर्थात् वज्र की हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित हों और वज्र की कीलियों से कीलित हों, वह वज्रवृषभनाराच संहनन है। (मू. १२३७ आ.) जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराच से कीलित होती हैं, वह वज्रवृषभनाराच शरीर संहनन है। (ध. ६/७३) जिसमें दोनों हड्डियों की सन्धियाँ वज्राकार हों, प्रत्येक हड्डी में वलय बन्धन और नाराच हो, ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रवृषभ नाराच संहनन है। (सुख बो. त. बृ. ४८१) जिससे बाँधा जावे उसे वृषभ कहते हैं और जो वज्र के समान अभेद्य अर्थात् जिसका भेद नहीं किया जा सके उसे वज्र कहते हैं। नाराच नाम कीले का है। (जैसे- किवाड़ के कब्जों के बीच लोहे का कीला होता है।) अतः जिस शरीर में वज्र की हड्डियाँ हों, वज्र का वृषभ, वज्र का नाराच हो उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं। (गो.क. ३३)

५४. प्रश्न : किन-किन जीवों के वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है ?

उत्तर : भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यज्ज्वों के, सयोग केवली के, पाँच अनुत्तरो में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के तथा सातवें नरक में जाने वाले सैनी (मनुष्य-तिर्यज्ज्व) जीवों के प्रथम वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है। (गो.क. ३०२, २७१, ३०, ३१)

चक्रवर्तियों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। (ति.प. ४/१३८२)

नव बलदेवों के, नव नारायणों के, नव प्रतिनारायणों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। (ति.पं.४/१३७१)

चौदह कुलकरो के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। (हरि. ७/१७३)

पाँच क्षपकों (८, ९, १०, १२, १३वें) में वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है। (क.प्र.टी. ८७ अज्ञाताचार्यकृत)

५५. प्रश्न : वज्रनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें रचना वज्रवृषभनाराच संहनन के समान हो परन्तु बन्धन वलय से रहित हो, वह वज्रनाराच संहनन है। (रा.वा. ९)

जिसके उदय से नाराच (कील) और संहनन (हाहो) तो वज्रमय हों और वृषभ (वेष्टन) सामान्य हो वह वज्रनाराच संहनन है। (हरि. ५८/२५४)

जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन तो वज्र की कीलियों से कीलित हों किन्तु ऋषभ-स्नायु वेष्टन न हो वह वज्रनाराचसंहनन है। (मू. १२३७) आ. अस्थिबन्ध ही जिस कर्म के उदय से वज्र वृषभ से रहित होता है वह कर्म वज्रनाराच शरीर संहनन नाम से कहा जाता है। (ध. ६/७३-७४)

५६. प्रश्न : नाराच संहनन किसे कहते हैं ?



**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से हड्डियों का बन्धन वज्र विशेषण से रहित, साधारण नाराच कीलियों से कीलित हो वह नाराच संहनन है। (मू. १२३७) आ.

वही वज्राकार बन्धन और वलय बन्धनसे रहित हो पर नाराच युक्त होने पर नाराच-संहनन कहलाता है। (रा.वा. ९)

जिसके उदय से दोनों अस्थियाँ वज्राकार नहीं होती हैं, वलय बन्धन भी नहीं होती किन्तु नाराचयुक्त (कील सहित) शरीर होता है वह नाराच संहनन है। (सुख बो. त. वृ. ४८१)

**५७. प्रश्न :** अर्धनाराच संहनन किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिसके उदय से शरीर के एक पार्श्व में तो नाराच होता है और एक पार्श्व में नाराच नहीं होता है वह अर्धनाराच संहनन है। (सुख बो. त. वृ. ४८१)

वही एक तरफ नाराच युक्त तथा दूसरी तरफ नाराच रहित अवस्था में अर्धनाराच है। (रा.वा. ९)

जिस कर्म के उदय से हड्डियों का समूह नाराच से आधा कीलित हो अर्थात् एक तरफ कीलित हो, दूसरी तरफ नहीं, वह अर्धनाराच संहनन चौथा है। (मू. १२३७) आ.

**५८. प्रश्न :** कीलक संहनन किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से वज्र रहित हड्डियाँ और कीलें होती हैं वह कीलक शरीर संहनन नाम कर्म है। (ध. ६/७४)

जिसके उदय से हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित न हों और वज्रनाराच से कीलित भी न हों वह कीलक संहनन पाँचवाँ है। (मू. १२३७) आ.

जिसके उदय से शरीर कील युक्त होता है वह कीलक संहनन है। (सुख बो. त. वृ. ४८१) जिसमें दोनों हड्डियों के छोरों में कीलें लगी हों वह कीलक संहनन है। (रा.वा. ९)

जिसके उदय से वज्र की हड्डियाँ न हों, किन्तु वे (हड्डियाँ) परस्पर नोक व गड्ढे के द्वारा फँसी हुई हों उसे कीलक संहनन कहते हैं। (गो.क. ३३)

**५९. प्रश्न :** असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्धन न हो, मात्र बाहर से सिरा, स्नायु, मांस आदि लपेट कर संघटित की गयी हों। वह असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन है। (रा.वा. ९)

जिसके उदय से अस्थियाँ परस्पर में प्राप्त न होकर सरीसृप के शरीर की तरह सिराओं से बँधी होती है। उसे असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं। (गो.क. जी. ३३)

जिस कर्म के उदय से सरीसृप अर्थात् सर्प की हड्डियों के समान परस्पर में असंप्राप्त और शिराबद्ध

हड्डियाँ होती हैं वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म है। (ध. ६/७४) जिस कर्म के उदय से अन्दर हड्डियों में परस्पर में सन्धि न हो और वे बाहर भी सिरा और स्नायु से जुड़ी हुई न हों, हड्डियों के ऐसे बन्धन को असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं। (मू. १२३७ टी.) आ.

६०. प्रश्न : किन-किन जीवों के असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है ?

उत्तर : लब्ध्यपर्याप्त तिर्यञ्च, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है। (गो.क. २९७, ३०१, ३०७)

६१. प्रश्न : कहाँ-कहाँ कितने संहनन होते हैं ?

उत्तर : अवसर्पिणी के चौथे काल में ६ संहनन।

अवसर्पिणी के पंचम काल में ३ संहनन। (अन्तिम)

अवसर्पिणी के छठे काल में १ संहनन। (अन्तिम)

सर्वविदेहों में ६ संहनन।

विद्याधर तथा म्लेच्छ तिर्यञ्च मनुष्यों में ६ संहनन।

नागेन्द्र पर्वत से परे तिर्यञ्चों में ६ संहनन।

कर्मभूमिया स्त्रियों के अन्तिम ३ संहनन।

असंख्यात वर्षायुष्क (भोगभूमिया जीवों के प्रथम संहनन।) (क.प्र.टी. ८८-९० अज्ञात अ.)

६२. प्रश्न : कौनसे संहनन वाला मरकर कौन-से स्वर्ग में उत्पन्न होता है ?

उत्तर : सृपाटिका संहनन से सहित जीव स्वर्ग में उत्पन्न हों तो सौधर्म युगल से चौथे लान्तवकापिष्ठ स्वर्ग युगल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

कीलक संहनन वाले इनसे ऊपर दो युगल तक अर्थात् बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। नाराच, वज्रनाराच, वज्रर्षभनाराच संहनन वाले मनुष्य नव ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। वज्रनाराच और वज्रवृषभनाराच संहनन वाले नव अनुदिश विमानों तक जाते हैं। वज्रर्षभनाराच संहनन वाले मनुष्य पंच अनुत्तर विमानों तक उत्पन्न होते हैं। (गो.क. २९-३०)

६३. प्रश्न : कौन से संहनन वाला कौन से नरक में जा सकता है ?

उत्तर : छह संहनन वाले सैनी जीव यदि नरक में उत्पन्न हों तो मेघा नामक तीसरे नरक पर्यन्त जा सकते हैं।

सृपाटिका संहनन बिना शेष पाँच संहनन वाले अरिष्टा नामक पंचम पृथ्वी तक जाते हैं। अर्धनाराचादि चार संहनन वाले माघवी नामक छठी पृथ्वी तक जाते हैं।

वज्रर्षभनाराच संहनन वाले माघवी नामक सप्तम पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। (गो.क. ३१)

**नोट** - कर्मभूमि की स्त्रियों के अन्तिम तीन संहनन होते हैं। आदि के तीन संहनन नहीं होते ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। (गो.क. ३२)

**६४. प्रश्न :** किन-किन जीवों के कौन-कौन सा संहनन होता है ?

**उत्तर :** विकलचतुष्क (द्वीन्द्रिय से असंज्ञी तक) जीवों में छठा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन होता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिया जीवों में पहला वज्रऋषभनाराच संहनन होता है। अवसर्पिणी के चौथे काल में छहों संहनन वाले, पंचम काल में अन्तिम तीन संहनन वाले और छठे काल में अन्तिम एक सृपाटिका संहनन वाले जीव होते हैं। सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रों में तथा विद्याधर, म्लेच्छ मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में छहों संहनन वाले जीव कहे गये हैं। नागेन्द्र पर्वत से परवर्ती तिर्यञ्चों में भी छहों संहनन कहे गये हैं। कर्मभूमि की महिलाओं के अन्तिम तीन संहननों का उदय होता है, उनके आदि के तीन संहनन नहीं होते, ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है। (क.प्र. ८८-९०)

मिथ्यात्वादि सात गुणस्थानों में छहों संहनन वाले जीव, अपूर्व आदि उपशम श्रेणी के चार गुणस्थानों में आदि के तीन संहनन वाले जीव और अपूर्वकरण आदि क्षपक श्रेणी के पाँच (८, ९, १०, १२, १३) गुणस्थानों में प्रथम संहनन वाले जीव पाये जाते हैं। (क.प्र. ८७)

**नोट :** देव, नारकी एवं एकेन्द्रियों के संहनन नहीं पाया जाता है। (गो.क.)

**६५. प्रश्न :** स्पर्श नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिसके उदय से शरीर में स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है वह स्पर्श नामकर्म है। (सुख बो. त. वृ. ४८१) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है। (मू. १२३७) आ.

जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न होता है, उस कर्म स्कन्ध की कारण में कार्य के उपचार से 'स्पर्श' संज्ञा है। (ध. ६/५५)

**६६. प्रश्न :** स्पर्श नाम कर्म कितने प्रकार का होता है ?

**उत्तर :** स्पर्श नाम कर्म आठ प्रकार का है-

(१) कर्कश स्पर्श नामकर्म (२) मृदु स्पर्श नामकर्म (३) गुरु स्पर्श नामकर्म (४) लघुक स्पर्श नामकर्म (५) स्निग्ध स्पर्श नामकर्म (६) रूक्ष स्पर्श नामकर्म (७) शीत स्पर्श नामकर्म (८) उष्ण स्पर्श नामकर्म।

**कर्कश नामकर्म** - जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल कठोर होते हैं वह कर्कश नामकर्म है।

इसी प्रकार से शेष स्पर्शों का अर्थ कर लेना चाहिए। (मू. १२३७) आ.

६७. प्रश्न : यदि स्पर्श नाम कर्म नहीं हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि स्पर्श नाम कर्म न हो, तो जीव का शरीर अनियत स्पर्श वाला होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, कमल के स्वपुष्प, फल और कमलनाल आदि में नियत स्पर्श पाया जाता है। (ध. ६/५६)

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। (मू. १२३७) आ.

६८. प्रश्न : रस नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रतिनियत तिक्त आदि रस उत्पन्न हों, उस कर्म स्कन्ध की रस यह संज्ञा है। (मू. १२३७ आ.) जिसके उदय में शरीर में रस उत्पन्न होता है वह रस नाम कर्म है। (सुख बो. त. वृ. ४८१)

६९. प्रश्न : रस नाम कर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : रस नाम कर्म पाँच प्रकार का होता है-

(१) तिक्त रस नाम कर्म (२) कटुक रस नाम कर्म (३) कषाय रस नामकर्म (४) अम्ल रस नाम कर्म (५) मधुर रस नामकर्म।

तिक्तरस - जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु तिक्तरस स्वरूप परिणत हो जावें वह तिक्त रस नाम कर्म है।

इसी तरह शेष रसों का भी अर्थ कर लेना चाहिए। (मू. १२३७) आ.

७०. प्रश्न : रस नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : इस (रस नाम कर्म) के अभाव में जाति के अनुरूप निश्चित रस नहीं हो सकेगा। किन्तु नीम आदि में प्रतिनियत रस पाया जाता है। (मू. १२३७) आ.

इस कर्म के अभाव में जीव के शरीर में जाति-प्रतिनियत रस नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नीम, आम और नीबू आदि में नियत रस पाया जाता है। (ध. ६/५५)

७१. प्रश्न : गन्ध नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रतिनियत गन्ध उत्पन्न होता है, उस कर्मस्कन्ध की 'गन्ध' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से की गई है। (ध. ६/५५)

जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न होती है उसकी संज्ञा गंध है। (मू. १२३७) आ.

जिस कर्म के उदय से शरीर में गन्ध उत्पन्न होती है। (हरि. पु. ५८/२५९)

७२. प्रश्न : गन्ध नामकर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : गन्ध के दो भेद हैं-

(१) सुरभि गन्ध (२) असुरभि गन्ध। (मू. १२३७) आ. (१) सुगन्ध नाम कर्म (२) दुर्गन्ध नाम कर्म। (हरि. पु. ५८/२५९)

(१) सुरभि गन्ध (२) दुरभि गन्ध। (ध. १३/३७०)

**सुरभिगन्ध** - जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु सुरभि-गन्ध से युक्त हों वह सुरभिगन्ध नामकर्म है।

**असुरभिगन्ध** - जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल दुर्गन्धित हो जाएँ वह असुरभिगन्ध है। (मू. १२३७) आ.

७३. प्रश्न : गन्ध नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि गन्ध नामकर्म न हो तो जीव के शरीर की गन्ध अनियत हो जायेगी, लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि हाथी और बाघ आदि में नियत गन्ध पाई जाती है। (ध. पु. ६/५५)

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि हाथी, बकरी आदि के शरीर में उस जाति के अनुरूप गन्ध पाई जाती है। (मू. १२३७) आ.

७४. प्रश्न : वर्ण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्ण नामकर्म है। (मू. १२३७) आ.

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में वर्ण की उत्पत्ति होती है उस कर्मस्कन्ध की 'वर्ण' संज्ञा है। (ध. ६/५५)

७५. प्रश्न : वर्ण नामकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : वर्ण नामकर्म पाँच प्रकार का होता है-

कृष्ण वर्ण नाम कर्म, नील वर्ण नाम कर्म, रुधिर वर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नाम-कर्म तथा शुक्ल वर्ण नाम कर्म। (मू. १२३७) आ.

**कृष्ण वर्ण** - जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों को कृष्णता प्राप्त होती है, वह कृष्ण वर्ण नामकर्म है। इसी प्रकार नीलादि वर्णों को जानना चाहिए। (मू. १२३७) आ.

७६. प्रश्न : वर्ण नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि वर्ण नामकर्म नहीं होगा तो शरीर वर्णशून्य हो जायेगा। (मू. १२३७) आ. इस कर्म के अभाव में अनियत वर्ण वाला शरीर हो जाएगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता क्योंकि भौरा, कोयल, हंस और बगुला आदि में निश्चित वर्ण पाये जाते हैं। परन्तु जो कार्य निर्हेतुक होता है, उसमें कोई नियम नहीं होता है, क्योंकि निर्हेतुक कार्य में नियम के मानने में विरोध है। (ध. ६/५५)

७७. प्रश्न : स्पर्शादि गुण अचेतन के हैं, वे चेतन के कैसे हो सकते हैं?

उत्तर : यद्यपि ये स्पर्शादि गुण पुद्गल के स्वभाव हैं तथापि जीव के शरीर में इनका प्रादुर्भाव कर्मोदयकृत है। इस प्रकार स्पर्शादि नामकर्म के उदय से उस-उस जाति के स्पर्श, रस आदि होते हैं। (रा.वा. १०)

७८. प्रश्न : शरीर अचेतन है उसमें कर्मोदय का अभाव होने से स्पर्शादि कैसे होंगे?

उत्तर : अणु और स्कन्ध रूप पुद्गलों में जो स्पर्शादिक होते हैं वे उन्हीं के स्वभाव रूप होते हैं, वे पुद्गल के स्पर्शादि विभाव रूप नहीं हैं न कर्मकृत हैं, पुद्गल में तो कर्मोदय का अभाव ही है। (सुख.बो.त.वृ. ४८२)

७९. प्रश्न : आनुपूर्वी नाम कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर : पूर्वायु के नाश हो जाने पर, पूर्व के निर्माण नामकर्म की निवृत्ति होने पर विग्रह गति में जिसके उदय से पूर्व के तैजस-कार्मण शरीर का विनाश न हो उसे आनु पूर्वी नामकर्म कहते हैं। (हरि.पु. ५८/२६१ आधार से)

पूर्व और उत्तर शरीर के अन्तराल में एक, दो अथवा तीन समय तक होने वाला जो जीव के प्रदेशों का आकार विशेष जिस कर्मस्कन्ध के उदय से होता है उसका नाम आनुपूर्वी है। (मू. १२३७) आ.

जिसने पूर्व शरीर को छोड़ दिया है, किन्तु उत्तर शरीर को ग्रहण नहीं किया है, जो आठ कर्मस्कन्धों के साथ एक रूप हो रहा है, और जो हंस के समान धवलवर्ण वाले विस्त्रसोपचर्यों से उपचित पाँच वर्ण वाले कर्मस्कन्धों से संयुक्त हैं, ऐसे जीव के विशिष्ट मुखाकार रूप से जीव प्रदेशों का जो परिपाटी क्रमानुसार परिणामन होता है उसे आनुपूर्वी कहते हैं। (ध. १३/३७१)

विशेष : जीव प्रदेशों के विशिष्ट संस्थान को मुख कहते हैं। (ध. १३/३७१)

८०. प्रश्न : आनुपूर्वी नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : आनुपूर्वी नामकर्म चार प्रकार का है-

(१) नरक-गत्यानुपूर्वी (२) तिर्यक्गत्यानुपूर्वी (३) मनुष्य-गत्यानुपूर्वी (४) देव-गत्यानुपूर्वी।

(रा.वा. ११)

(१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी (२) तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी (३) मनुष्य गतिप्रायोग्यानुपूर्वी (४) देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी। (मू. १२३७ आ.)

८१. प्रश्न : नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से नरक गति को गये हुए और विग्रहगति में वर्तमान जीव के नरकगति के योग्य संस्थान होता है, वह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म है। (ध. ६/७६) जिस कर्म स्कन्ध के उदय से मनुष्य अथवा तिर्यञ्च अपनी आयु पूर्ण करके पूर्व शरीर को छोड़कर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रहगति में उदय तो नरक गत्यानुपूर्वी का होता है परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार मनुष्य वा तिर्यञ्च का बना रहता है वह नरक गत्यानुपूर्वी नामकर्म है। (रा.वा. ११)

८२. प्रश्न : नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म की प्रकृतियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तिर्यक् प्रतर रूप बाहुल्य को श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है, उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। (ध. १३/३७१)

नोट : इसी प्रकार तिर्यग्गत्यानुपूर्वी आदि के लक्षण जानने चाहिए।

८३. प्रश्न : तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म की प्रकृतियाँ लोक को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों के भेदों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। (ध. १३/३७५-३७६)

८४. प्रश्न : देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियाँ नौ सौ योजन बाहुल्य रूप तिर्यक् प्रतरों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। (ध. १३/३८३)

८५. प्रश्न : मनुष्य गत्यानुपूर्वी नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर : मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियाँ ऊर्ध्वकपाट छेदने से निष्पन्न पैतालीस लाख योजन बाहुल्य वाले तिर्यक् प्रतरों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी है। इसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं। (ध. १३/३७७)

८६. प्रश्न : संस्थान-विशेष से आकार-विशेष उत्पन्न होता है अतः आनुपूर्वी की कल्पना व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि शरीर ग्रहण के प्रथम समय से ऊपर उदय में आने वाले उस संस्थान नाम कर्म का विग्रहगति के काल में उदय का अभाव पाया जाता है। (ध. ६/५६)

८७. प्रश्न : विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहना तो निर्माण नाम कर्म का फल है आनुपूर्वी के उदयकृत पूर्व आकार नहीं है ?

उत्तर : विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बने रहना निर्माण नामकर्म का कार्य नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीर के नष्ट होते ही निर्माण नाम कर्म का उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होने पर आठ कर्म के पिण्ड रूप कर्मण और तैजस शरीर के सम्बद्ध रहने वाले आत्मप्रदेशों का आकार विग्रहगति में पूर्व शरीर के आकार रूप बना रहता है। उसका कारण आनुपूर्वी का उदय है, निर्माण नाम कर्म का नहीं। (रा.वा.११)

८८. प्रश्न : आनुपूर्वी नामकर्म का उदय कहाँ और कितने समय तक रहता है ?

उत्तर : आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में ही होता है। इसका उदय अधिक-से-अधिक तीन समय एवं जघन्य से एक समय है। ऋजुगति में पूर्व शरीर के आकार का विनाश होने पर शीघ्र ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण होता है वह निर्माण नाम कर्म के उदय का व्यापार है। (रा.वा. ११)

८९. प्रश्न : आनुपूर्वी नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि यह आनुपूर्वी नामकर्म नहीं हो तो विग्रहगति के काल में जीव अनियत संस्थान वाला हो जायेगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जाति प्रतिनियत संस्थान विग्रहकाल में पाया जाता है। (ध.६/५६)

इस कर्म का अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता है और उत्तर शरीर ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पाई जाती है। (मू. १२३७) आ.

९०. प्रश्न : अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्मस्कन्ध के उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो नीचे ही गिर जाता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर ही चला जाता है, वह अगुरुलघु नामकर्म है। (मू. १२३७) आ.

९१. प्रश्न : अगुरुलघु नामका गुण सर्व जीवों में पारिणामिक है क्योंकि अशेष कर्मों से रहित सिद्धों में भी पाया जाता है। इसलिए अगुरुलघु नामकर्म का कोई फल न होने से उसका अभाव मानना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ उक्त शंका का परिहार करते हैं- यह उपर्युक्त दोष तब प्राप्त होता, यदि अगुरुलघु नामकर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कर्म पुद्गल विपाकी है। क्योंकि गुरु स्पर्श वाली अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा आरब्ध शरीर के अगुरुलघुता उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो गुरु भार वाले शरीर से संयुक्त यह जीव उठने के लिए भी समर्थ नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीर के केवल हल्कापन और केवलभारीपन पाया नहीं जाता है। (ध. ६/११४)



१२. प्रश्न : धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघुत्व कैसे होता है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों में अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व के कारण अगुरुलघुत्व है, नाम कर्म की अपेक्षा नहीं। अनादिकालीन कर्मबन्धन बद्ध जीवों में कर्मोदय कृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबन्धन रहित मुक्त जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है। (रा.वा. १२)

१३. प्रश्न : अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि संसार अवस्था में कर्म-परतन्त्र जीव में उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव है। यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव का विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि, लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है, ऐसा न्याय है सो यह बात भी नहीं है अर्थात् अगुरुलघु नामकर्म के विनाश हो जाने पर भी जीव का विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ जीव का अगुरुलघुत्व कर्म के द्वारा नहीं किया जाता है, किन्तु जीव में भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है, वह जिस कर्म के उदय से जीव के भारी या हल्का नहीं होता है, वह अगुरुलघु कर्म यहाँ विवक्षित है। अतएव यहाँ पर जीव-विषयक अगुरुलघुत्व का ग्रहण नहीं करना चाहिए। (ध. ६/५८)

१४. प्रश्न : अगुरुलघु नाम कर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जीव के अगुरुलघु नामकर्म न हो तो या तो जीव लोहे के गोले के समान भारी हो जायेगा अथवा आक के तूल के समान हल्का हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। (ध. पु. ६/५८)

१५. प्रश्न : उपघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं प्राप्त होने वाले घात को उपघात-आत्मघात कहते हैं। जो कर्म अवयवों को जीव की पीड़ा का कारण बना देता है, अथवा जीव पीड़ा के कारण स्वरूप विष, खड्ग, पाश आदि द्रव्यों को जीव के लिए ढोता है वह उपघात नाम कर्म है। (ध. ६/५९) पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बन्धन और पर्वत से गिरना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नाम कर्म है। अथवा जो कर्म जीव के अपने ही पीड़ा में कारण-भूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचता है वह उपघात है। (मू. १२३७) आ.

“उपेत्य घातः उपघातः” अपने घात का नाम उपघात है। जिसके उदय से अपने अंगों से अपना ही घात हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं। जैसे बड़े सींग आदि। (गो.क. ३३) जिसके उदय से उद्बन्धन और मरुस्थल में गिरना, वायु से गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है। (सर्वा. ७५५) जो विष सेवन कर, अग्नि में जलकर मर जाते हैं या ऐसे शरीर के अवयव जिनसे अपना घात होता है वे सब उपघात नामकर्म के विपाक हैं।<sup>१</sup> (रावा. १३)

१. जिसके उदय से अपने आपका नाश करने वाले अंगोपांग हों, जैसे-हिरण के नाभ्यण्डक (नाभि में)।

९६. प्रश्न : जीव को पीड़ा करने वाले अवयव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : महाशृंग, लम्बे स्तन, विशाल तोंद वाला पेट आदि जीव को पीड़ा करने वाले अवयव हैं। (ध. ६/५९)

९७. प्रश्न : जीव के दुःख उत्पन्न करने में असाता वेदनीय कर्म का व्यापार होता है ?

उत्तर : जीव के दुःख उत्पन्न करने में असातावेदनीय कर्म का व्यापार रहा आवे, किन्तु उपघात कर्म भी उस असातावेदनीय का सहकारी कारण होता है, क्योंकि उसके उदय के निमित्त से दुःखकर पुद्गल द्रव्य का सम्पादन होता है। (ध. ६/५९)

९८. प्रश्न : यदि उपघात नाम कर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि उपघात नामकर्म जीव के न हो, तो वात, पित्त और कफ से दूषित शरीर से जीव के पीड़ा नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। (ध. ६/५९)

९९. प्रश्न : परघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म कहलाता है। (ध. ६/५९)

परजीवों का घात परघात है। जिस कर्म के उदय से पर के घात के लिए कारण साँप की दाढ़ और बिच्छू की पूँछ आदि रूप से उत्पन्न हुए शरीर के पुद्गल होते हैं। अथवा, पर शस्त्र आदि के द्वारा जो आघात होता है वह परघात नामकर्म है। (मू. १२३७ आ.) जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है वह परघात नामकर्म है। 'पर' शब्द अन्य का पर्यायवाची है। जिस कर्म के उदय से फलक, कवच आदि आवरण का सन्निधान होने पर भी पर प्रयुक्त शस्त्र आदि के द्वारा घात होता है, पर के मारण-ताड़न आदि होते हैं वह परघात नामकर्म है। (रा.वा. १४)

जिसके उदय से अन्य का घात करने योग्य अंग हैं उसे परघात नामकर्म कहते हैं जैसे- तीक्ष्ण सींग आदि। (गो.क.जी. ३३)

जिसके उदय से अन्य शस्त्रादि का निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है। (सर्वा. ७५५)

१००. प्रश्न : परघात के कारण क्या-क्या हैं ?

उत्तर : साँप की दाढ़ों में विष, बिच्छू की पूँछ में विष, परदुःख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र और छल्ल (शबल-चीता) आदि में (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगी, वत्स्यनाभि और धतूर आदि विषैले वृक्ष पर को दुःख उत्पन्न करने वाले हैं। (ध. ६/५९)

तीक्ष्ण सींग, नख, सर्पादि की दाढ़ में विष आदि परघात के कारण हैं। (गो.क. ३३)

१०१.प्रश्न : आतप नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सब तरफ से तपना आतप है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव का शरीर आतप रूप होता है अर्थात् उसमें अन्य को संतप्त करने वाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। (मू. १२३७) आ.

जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नामकर्म है। अथवा जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में ताप का निर्वर्तक है वह आतप नामकर्म है। (रा.वा. १५)

उष्णता सहित प्रकाश को आतप कहते हैं।<sup>१</sup> (ध. ६/६०)

जिसके उदय से सूर्य के समान भारी आतपकारी शरीर हो वह आतप नामकर्म है। (हरि. पु. ५८/२६४)

१०२.प्रश्न : उष्णता सहित प्रकाश को आतप कहेंगे तो तेजस्कायिक जीवों में भी आतप नामकर्म होगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि तेजस्कायिक नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई उसकी अग्नि की उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होने से उसका आतप के साथ समानता का अभाव है। (ध. ६/६०)

१०३.प्रश्न : यदि आतप नामकर्म न हो तो क्या होगा ?

उत्तर : यदि आतप नामकर्म न हो तो पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर रूप सूर्य-मण्डल में आतप का अभाव हो जाय। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। (ध. ६/६०)

इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूर्य के विमान आदिकों में होने वाले पृथिवीकायिकों में ऐसा तापकारी प्रकाश दीखता है। (मू. १२३७) आ.

१०४.प्रश्न : आतप नामकर्म किन-किनके होता है ?

उत्तर : आतप नामकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब में उत्पन्न होने वाले बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त जीवों के होता है (अथवा सूर्यकान्तमणि में भी होता है) (गो.क. ३३)

आतप नाम कर्म का उदय सूर्य के विमान में जो बादर पर्याप्त जीव पृथ्वीकायिक मणिस्वरूप होते हैं उन्हीं के होता है, अन्य के नहीं। (हरि. पु. ५८/२६४)

१०५.प्रश्न : उद्योत नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : उद्योतित होना चमकना उद्योत है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उद्योत

१. जिसके उदय से औरों को संताप देने वाला शरीर हो उसे आतप नाम कर्म कहते हैं।

ठण्डा प्रकाश उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है।<sup>१</sup> (मू. १२३८) आ. जिसके द्वारा प्रकाशित किया जाता है, अथवा प्रकाश मात्र को उद्योत कहते हैं, प्रकाश का जो निमित्त है वह उद्योत नामकर्म है। (सुख बो. त.वृ. ४८३)

**१०६.प्रश्न : उद्योत नामकर्म का उदय किस-किसके होता है ?**

**उत्तर :** उद्योत नामकर्म का उदय चन्द्र के विमान में स्थित पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय जुगनू आदि तिर्यज्ज्वों में होता है। (रा.वा. १६)

**१०७.प्रश्न : उद्योत नामकर्म का उदय नहीं हो तो क्या होगा ?**

**उत्तर :** यदि उद्योत नामकर्म का उदय नहीं हो तो चन्द्र, नक्षत्र, तारा और खद्योत (जुगनू) आदि के शरीर में उद्योत (प्रकाश) नहीं होगा किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता। (ध. ६/६०)

इसका भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि चन्द्रमा और नक्षत्रों के विमानों में होने वाले पृथिवीकायिक जीवों के शरीर में तथा जुगनू आदि के शरीरों में उद्योत देखा जाता है। (मू. १२३७) आ.

**१०८.प्रश्न : अग्नि, आतप और उद्योत में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर :** आग के मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं। (अतः उसके उष्ण स्पर्श नाम कर्म का उदय है) जिसकी प्रभा अर्थात् किरणों में उष्णपना हो उसको आतप कहते हैं तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसके उद्योत नामकर्म का उदय जानना। (गो.क. ३३)

**१०९.प्रश्न : उच्छ्वास नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** उच्छ्वसित होना उच्छ्वास है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और निःश्वास कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उच्छ्वास निःश्वास नामकर्म है। (मू. १२३८) आ. जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है। (रा.वा. १७)

सांस लेने को उच्छ्वास कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और निःश्वास रूप कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है, उस कर्म की 'उच्छ्वास' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है। (ध. ६/६०)

**११०.प्रश्न : यदि उच्छ्वास नामकर्म नहीं होगा तो क्या होगा ?**

**उत्तर :** यदि उच्छ्वास नामकर्म नहीं होगा तो जीव श्वास रहित हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि संसार में उच्छ्वास से रहित जीव पाये नहीं जाते हैं। (ध. ६/६०)

१. जिसके उदय से उजाला करने वाला शरीर हो वह उद्योत नामकर्म है।

**१११.प्रश्न :** विहायोगति नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** विहाय का अर्थ आकाश होता है और आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म है। (रा.वा. १८)

आकाश में जो गति है वह विहायोगति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। (मू. १२३७)

**११२.प्रश्न :** विहायोगति नामकर्म कितने प्रकार का है ?

**उत्तर :** विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है-

(१) प्रशस्त विहायोगति (२) अप्रशस्त विहायोगति।

**प्रशस्तविहायोगति** - जिस कर्म के उदय से सिंह, हाथी, हंस, बैल आदि के समान प्रशस्त गमन होता है वह प्रशस्त विहायोगति नामकर्म है।

**अप्रशस्त विहायोगति** - गधा, ऊँट, (सियार, कुत्ता) आदि की अप्रशस्त गति में जो कर्म कारण है वह अप्रशस्त विहायोगति है। (रा.वा. १८)

**११३.प्रश्न :** क्या विहायोगति का उदय पक्षियों में ही होता है ?

**उत्तर :** विहायोगति का उदय आकाशगामी पक्षियों में ही नहीं है अपितु सभी प्राणियों में विहायोगति है क्योंकि अवगाहन शक्ति के योग से सभी की आकाश में ही गति होती है। (रा.वा. १८)

**११४.प्रश्न :** विहायोगति नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** इस कर्म का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि एक वितस्ति मात्र पैर में स्थित जीव के प्रदेशों से भूमि का अवगाहन करके सम्पूर्ण जीव प्रदेशों का आकाश में गमन देखा जाता है। (मू. १२३८ आ.)

मनुष्य-तिर्यञ्चों का भूमि पर गमन भी विहायोगति नामकर्म के उदय से ही होता है। क्योंकि वितस्ति मात्र पाँव वाले जीव-प्रदेशों के द्वारा भूमि को व्याप्त करके जीव के समस्त प्रदेशों का आकाश में गमन पाया जाता है। (ध. ६/६१)

**११५.प्रश्न :** प्रत्येक शरीर नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** एक आत्मा के उपभोग के कारण शरीर को प्रत्येक शरीर कहते हैं। एक आत्मा के प्रति प्रत्येक है 'प्रत्येक शरीर' प्रत्येक शरीर। शरीर नामकर्म के उदय से रचित शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग का कारण हो अर्थात् जिसका स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। (रा.वा. १९) शरीर नामकर्म के उदय से रचा हुआ और एक आत्मा के लिए उपभोग का कारण शरीर

जिस कर्म के उदय से होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ. जिस कर्म के उदय से जीव प्रत्येकशरीरी होता है, उस कर्म की 'प्रत्येक शरीर' यह संज्ञा है। (ध. ६/६२)

**११६.प्रश्न : यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?**

**उत्तर :** यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो, तो एक शरीर में एक जीव का ही उपलम्भ नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रत्येकशरीरी जीवों का सद्भाव बाधारहित पाया जाता है। (ध. ६/६२)

**११७.प्रश्न : साधारण शरीर नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत सी आत्माओं के उपभोग का कारण होता है वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है। (रा.वा. २०) अनेक आत्माओं के लिए उपभोग हेतुक शरीर जिससे होता है वह साधारण शरीर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिस कर्म के उदय से जीव साधारण शरीरी होता है उस कर्म की साधारण शरीर यह संज्ञा है। (ध. ६/६३)

**११८.प्रश्न : साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जीव कैसा होता है ?**

**उत्तर :** साधारण जीवों के साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियाँ होती हैं और उनका जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि सभी होते हैं। जब एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होती है उस समय उसके साथ अनन्तानन्त जीवों की आहारादि पर्याप्तियों की निर्वृत्ति हो जाती है। जब एक जीव जन्मता है तो उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का जन्म होता है। जब एक जीव का मरण होता है तब उसके साथ अनन्तानन्त जीवों का मरण होता है। जिस समय एक जीव श्वास ग्रहण करता है या छोड़ता है उसी समय अनन्तानन्त प्राणी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं। जब एक जीव आहारादि का अनुग्रह करता है, आहार ग्रहण करता है तो उस समय एक साथ अनन्तानन्त जीव आहारादि ग्रहण करते हैं, जिस समय एक जीव का अग्नि-विषादि के द्वारा उपघात होता है उसी समय अनन्तानन्त जीवों का उपघात होता है। (रा.वा. २०)

**११९.प्रश्न : यदि साधारण शरीर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?**

**उत्तर :** यदि साधारण शरीर नामकर्म न हो, तो सभी जीव प्रत्येकशरीरी हो जावेंगे। ऐसा है नहीं क्योंकि प्रतिपक्षी के अभाव में विवक्षित जीव के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। (ध. ६/६३)

**१२०.प्रश्न : त्रस नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से जीवों के त्रसपना होता है, उस कर्म की त्रस यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है। (ध. ६/६१)

जिस कर्म के उदय से जीव त्रसों में उत्पन्न होता है वह त्रस नामकर्म है। (मू. १२३८ आ.)

जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय आदि जंगम जीवों में जन्म लेता है, वह त्रस नाम कर्म है। (रा.वा. २१) जिस कर्म के उदय से जीवों के गमनागमन भाव होता है वह त्रस नामकर्म है। (ध. १३/३६५)

**१२१.प्रश्न :** त्रस नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** यदि त्रस नामकर्म न हो, तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि जीवों का सद्भाव पाया जाता है। (ध. ६/६१)

**१२२.प्रश्न :** स्थावर नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप पंच स्थावर एकेन्द्रियों में जन्म लेता है, पाँच स्थावर काय में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है। (रा.वा. २२)

जिस कर्म के उदय से जीव स्थावरपने को प्राप्त होता है, उस कर्म की स्थावर यह संज्ञा है। (ध. ६/६१)

**१२३.प्रश्न :** स्थावर नामकर्म नहीं हो तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** यदि स्थावर नाम कर्म न हो, तो स्थावर जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थावर जीवों का सद्भाव पाया जाता है। (ध. ६/६१)

**१२४.प्रश्न :** स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर और एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं तो स्थावर व एकेन्द्रिय में क्या भेद है?

**उत्तर :** एकेन्द्रिय नामकर्म में पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति भेद नहीं हैं। इनमें एकेन्द्रिय नाम कर्म इन्द्रिय की मुख्यता रखता है। जिस जीव के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होगी वह एकेन्द्रिय जीव कहलाएगा किन्तु स्थावर नामकर्म काय की मुख्यता रखता है। एकेन्द्रिय होकर भी वह जीव पृथ्वी आदि में से किस काय को धारण करेगा यह स्थावर नामकर्म का कार्य है। (ध.पु. ६/६७)

**१२५.प्रश्न :** सुभग नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिसके उदय से स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रीति से उत्पन्न हुआ सौभाग्य होता है वह सुभग नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

रूपवान हो या कुरूप हो, जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उसमें प्रीति करते हैं, जो सबको प्यारा लगता है वह सुभग नाम कर्म है। (रा.वा. २३)

स्त्री और पुरुष के सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला सुभग नामकर्म है। (ध. ६/६५)

**१२६.प्रश्न :** दुर्भग नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** रूपादि गुणों से सहित होते हुए भी लोगों को जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं। (मू. १२३८ आ.)

रूपवान, सौन्दर्यवान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करे, किन्तु जो दूसरों की अप्रीति का कारण होता है, अप्रीतिकर प्रतीत होता है, वह दुर्भग नामकर्म है। (रा.वा. २४)

स्त्री-पुरुष के दौर्भाग्य को उत्पन्न करने वाला दुर्भग नामकर्म है। (ध. ६/६५)

**१२७.प्रश्न : सुस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से अन्य जनों को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हों, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय हो, वह सुस्वर नामकर्म है। (रा.वा. २५)

जिस कर्म के उदय से कानों को प्यारा लगने वाला स्वर होता है वह सुस्वर नामकर्म है। (ध. १३/३६६) सुस्वर नाम मधुर नाद का है। जिस कर्म के उदय से जीवों का मधुर स्वर होता है, वह कर्म सुस्वर कहलाता है। (ध. ६/६५)

जिसके उदय से स्वर शोभन-मधुर और मनोज्ञ होता है वह सुस्वर नाम कर्म है। (मू. १२३८) आ.

**१२८.प्रश्न : दुःस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुःस्वर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ. अमधुरस्वर को दुःस्वर कहते हैं जैसे- गधा, ऊँट और सियार आदि जीवों का स्वर दुःस्वर होता है। (ध. ६/६५)

जिसके उदय से जीव के बुरा स्वर उत्पन्न होता है वह दुःस्वर नामकर्म कहलाता है। (ध. ६/६५) जिसके उदय से कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह दुःस्वर नामकर्म है। (रा.वा. २६)

**१२९.प्रश्न : शुभ नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से अंगोपांग-नामकर्म से उत्पन्न हुए अंगों और उपांगों में रमणीयता आती है वह शुभ नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिसके उदय से देखने या सुनने पर प्राणी रमणीय प्रतीत हो, वह शुभ नामकर्म है। (रा.वा. २७) जिस कर्म के उदय से चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व और वासुदेवत्व आदि ऋद्धियों के सूचक शंख, अंकुश और कमल आदि चिह्न अंग-प्रत्यंगों में उत्पन्न होते हैं वह शुभ नामकर्म है। (ध. १३/३६५)

**१३०.प्रश्न : अशुभ नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** शुभ से विपरीत अशुभ नामकर्म है। देखने व सुनने वाले को रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है। (रा.वा. २८)



जिस कर्म के उदय से अशुभ लक्षण उत्पन्न होते हैं वह अशुभ नामकर्म है। (ध. १३/३६५) अंगों और उपांगों में अशुभता को उत्पन्न करने वाला अशुभ नामकर्म है। (ध. ६/६४-६५) जिसके उदय से अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न अंगों और उपांगों में रमणीयता नहीं होती है वह अशुभ नामकर्म है। (मू. १२३८ आ.)

**१३१.प्रश्न : सूक्ष्म नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मता को प्राप्त होता है उस कर्म की सूक्ष्म यह संज्ञा है। (ध. ६/६२) जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मों में उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म नामकर्म है। (मू. १२३८ आ.) सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्ता सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है वह सूक्ष्म नामकर्म है। (रा.वा. २९)

जो किसी से रुकता नहीं है और किसी को रोकता नहीं है, जिसका किसी के द्वारा घात नहीं होता, वह सूक्ष्म नामकर्म है। (रा.वा. ३०)

जिन जीवों का पृथ्वी से, जल से, आग से और वायु से प्रतिघात नहीं होता, उन्हें सूक्ष्मकायिक जानो। (का.अ. १२७)

आधार की अपेक्षा रहित जिनका शरीर है वे सूक्ष्म जीव हैं। जिनकी गति का जल, स्थल आधारों के द्वारा प्रतिघात नहीं होता है और अत्यन्त सूक्ष्म परिणामन के कारण वे जीव सूक्ष्म कहे हैं।

**१३२.प्रश्न : सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म होने से ही अन्य मूर्त द्रव्यों के द्वारा आघात को प्राप्त नहीं होता है, इसलिए मूर्त द्रव्यों के साथ प्रतिघात का नहीं होना सूक्ष्म नामकर्म के उदय से नहीं मानना चाहिए ?**

**उत्तर :** नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात को नहीं प्राप्त होने से सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होने वाले सूक्ष्म शरीर से असंख्यातगुणी हीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से बादर संज्ञा को प्राप्त होने वाले बादर शरीर की सूक्ष्मता के प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होगा, ऐसी आपत्ति आयेगी। (ध. १/२५३)

**१३३.प्रश्न : बादर जीवों से सूक्ष्म जीवों की अवगाहना अधिक भी है अतः वे प्रतिघात रहित कैसे हो सकते हैं ?**

**उत्तर :** यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिकादि जीवों की अवगाहना स्तोक है और इससे लेकर सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिकादिक पृथिवीकायिक पर्यन्त जीवों की जघन्य वा उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यात गुणी है अतः महान् है तो भी सूक्ष्म नामकर्म की सामर्थ्य से अन्य पर्वतादिक से भी उनका प्रतिघात नहीं होता है, उनमें वे निकलकर चले जाते हैं। जैसे-जल की बूँद वस्त्र से रुकती नहीं है, निकल जाती है वैसे सूक्ष्म शरीर जानना। (गो.जी.जी. १८४)

१३४.प्रश्न : यदि सूक्ष्म नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि सूक्ष्म नामकर्म न हो, तो सूक्ष्म जीवों का अभाव हो जावे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अपने प्रतिपक्षी के अभाव में बादर कायिक जीवों के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। (ध. ६/६२)

१३५.प्रश्न : बादर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से अन्य को बाधा देने वाले शरीर में जीव का जन्म होता है वह बादर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है वह स्थूल नामकर्म है। (रा.वा. ३०)

जिस कर्म के उदय से जीव बादरकाय वालों में उत्पन्न होता है, उस कर्म की 'बादर' यह संज्ञा है। (ध. ६/६१)

बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची नहीं है, किन्तु बादर नामक नामकर्म का वाचक है इसलिए उस बादर नामकर्म के उदय के सम्बन्धसे जीव भी बादर कहा जाता है। (ध. १/२५२)

१३६.प्रश्न : बादर जीवों की अवगाहना सूक्ष्म जीवों से छोटी भी होती है अतः उन्हें अप्रतिघाती कहना चाहिए ?

उत्तर : बादर नामकर्म के उदय से अल्प शरीर होने पर भी दूसरों के द्वारा प्रतिघात होता है; जैसे सरसों वस्त्र से निकलती नहीं तैसे ही बादर शरीर जानना। (गो.जी.जी. १८४)

१३७.प्रश्न : ऋद्धिधारी मुनिराज का शरीर तो बादर है वह पर्वत आदि में ये कैसे निकल जाता है ?

उत्तर : यद्यपि ऋद्धिप्राप्त मुनियों का शरीर बादर है तो भी वज्र, पर्वत आदि में से निकल जाता है, रुकता नहीं है, यह तप जनित अतिशय की ही महिमा है। क्योंकि तप, विद्या, मणि, मंत्र, औषधि की शक्ति के अतिशय का माहात्म्य अचिन्त्य होता है। सभी वादी इस बात से सहमत हैं कि वस्तु का स्वभाव तर्कगोचर नहीं है।

नोट : यहाँ (बादर-सूक्ष्म के लक्षण में) अतिशयवानों का ग्रहण नहीं है इसलिए अतिशय रहित है। (गो. जी.जी. १८४) वस्तु के विचार में पूर्वोक्त शास्त्र का उपदेश ही बादर-सूक्ष्म जीवों का सिद्ध हुआ। (गो.जी.जी. १८४)

१३८.प्रश्न : बादर नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि बादर नामकर्म न हो तो बादर जीवों का अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं,

क्योंकि प्रतिघाती शरीर वाले जीवों की भी उपलब्धि होती है। (ध. ६/६१)

**१३९.प्रश्न : बादर और सूक्ष्म नामकर्म में क्या अन्तर है ?**

उत्तर : बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त्त पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है और सूक्ष्म नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त्त पदार्थों के द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है, यही इन दोनों में भेद है। (ध. १/२५३)

**१४०.प्रश्न : पर्याप्ति नाम कर्म किसे कहते हैं ?**

उत्तर : जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है, पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। (रा.वा. ३१) जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त होता है, उस कर्म की 'पर्याप्त' यह संज्ञा है। (ध. ६/६२) पर्याप्तियों को पूर्ण करने की शक्ति के कारण जो पुद्गलस्कन्ध हैं उन पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति को जिनेन्द्रदेव ने पर्याप्ति कहा है। (का.अ.१३५) जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों के द्वारा आत्मा अन्तर्मुहूर्त्त में पर्याप्ति को प्राप्त कर लेता है वह पर्याप्ति नामकर्म है। (सुख बो. त.वृ. ४८५)

**१४१.प्रश्न : पर्याप्तियाँ कितनी होती हैं ?**

उत्तर : पर्याप्तियाँ छह होती हैं-

(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति (६) मनः पर्याप्ति। (रावा. ३१)

**१४२.प्रश्न : आहार पर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

उत्तर : पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से आहार वर्गणा रूप आये हुए पुद्गल स्कन्ध, जो कि अनन्त परमाणु रूप होकर भी स्कन्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं और आत्मा के द्वारा रोके गये क्षेत्र में स्थित हैं, जो अमूर्त्तिक होकर भी इन कर्मस्कन्धों के सम्बन्ध से मूर्त्तिक भाव को प्राप्त हो रहे हैं ऐसी आत्मा का समवेत रूप से जो पुद्गल स्कन्ध का एकक्षेत्रावगाही रूप से आश्रय कर रहे हैं उन पुद्गल स्कन्धों में खल और रस पर्याय से परिणमन करने की शक्ति का नाम आहार पर्याप्ति है। (मू. १२३८) आ. ।

**१४३.प्रश्न : शरीर पर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

उत्तर : आहार पर्याप्ति में जो पुद्गल खल और रस रूप हुए हैं उनमें से खल भाग को तो तिल की खली के समान हड्डी आदि स्थिर अवयव रूप से एवं रस भाग को तिल के तेल समान रस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि द्रव अवयव पदार्थ रूप से परिणमन कराने की शक्ति की सामर्थ्य का होना शरीर पर्याप्ति है। (मू. १२३८) आ. जिस कारणसे जीव शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें औदारिक-वैक्रियिक, आहारक शरीर के स्वरूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना शरीर पर्याप्ति है। (मू. १०४७) आ.

तिल की खली के समान उस खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयव रूप से और तिल के तेल समान रस भाग को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूप से परिणमन करने वाले औदारिकादि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गल स्कन्धों की प्राप्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं। (ध. १/२५७)

**१४४.प्रश्न : इन्द्रिय पर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** योग्य देश में स्थित जो रूप आदि से विशिष्ट पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की शक्ति का निष्पन्न होना इन्द्रिय पर्याप्ति है। (मू. १२३८ आ.)

योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने रूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्त भूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। (ध. १/२५७)

जिस कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियों के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके यह आत्मा अपने विषयों को जानने में समर्थ होता है, उस कारण की पूर्णता का नाम इन्द्रिय पर्याप्ति है। (मू. १०४७) आ.

**१४५.प्रश्न : इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होते ही इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता?**

**उत्तर :** इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पायी जाती है। (ध. १/२५७)

**१४६.प्रश्न : इन्द्रिय प्राण एवं इन्द्रिय पर्याप्ति में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर :** नहीं, पाँचों इन्द्रिय प्राणों का इन्द्रिय पर्याप्ति में भी अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय आदि का आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम स्वरूप इन्द्रियों को और क्षयोपशम की अपेक्षा बाह्य पदार्थों का ग्रहण करने की शक्ति को उत्पन्न करने में निमित्तभूत पुद्गलों के प्रचय को एक होने में विरोध आता है। (ध. २/४१४)

**१४७.प्रश्न : श्वासोच्छ्वास (आनपान) पर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस कारण से यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप रचना करने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का नाम आनपान पर्याप्ति है। (मू. १०४७ आ.)

उच्छ्वास और निःश्वास रूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को आनपान पर्याप्ति कहते हैं। (ध. १/२५७-५८)

उच्छ्वास निकलने की शक्ति की पूर्णता का नाम आनपान पर्याप्ति है। (मू. १२३८ आ.)

**१४८.प्रश्न : श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति एवं श्वासोच्छ्वास प्राण में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर :** उच्छ्वास-निश्वास प्राण कार्य हैं और आत्मोपादान कारक है तथा उच्छ्वास-निःश्वास

पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है अतः इन दोनों में भेद समझ लेना चाहिए। (ध. २/४१४)

इन्द्रिय के विषय और अविषय की अपेक्षा दोनों में अन्तर है। श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव के जो शीत उष्ण आदि से उत्पन्न दुःख के कारण लम्बे उच्छ्वास निःश्वास होते हैं और जो श्रोत्र इन्द्रिय, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा ग्राह्य होते हैं। परन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति सर्व संसारी जीवों के होती है और श्रोत्र तथा स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में नहीं आती है। यही दोनों में अन्तर है। (रा.वा. ३२)

**१४९.प्रश्न : भाषा पर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** भाषा-वर्गणाओं के प्रचार की भाषा के आकार से परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता का होना भाषा पर्याप्ति है। (मू. १२३८) आ.

जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार प्रकार की भाषा के योग्य पुद्गल द्रव्यों का आश्रय लेकर उन्हें चतुर्विध भाषा रूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की समर्थता का नाम भाषा पर्याप्ति है। (मू. १०४७) आ. भाषा वर्गणा के स्कन्धों के निमित्त से चार प्रकार की भाषा रूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्तभूत नोकर्म पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। (ध.१/२५८)

**१५०.प्रश्न : भाषा पर्याप्ति और वचनबल प्राण में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर :** वचन बल भाषा पर्याप्ति में अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि आहार वर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय का और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति की परस्पर समानता का अभाव है। (ध. २/४१४)

**१५१.प्रश्न : मनःपर्याप्ति किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिस कारण से सत्य, असत्य आदि चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके उन्हें चार प्रकार की मनःपर्याप्ति से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं। (मू. १०४७) आ. अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न पुद्गल प्रचय को मनःपर्याप्ति कहते हैं। अथवा द्रव्यमन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरणरूप शक्ति की उत्पत्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं। (ध. १/२५८) मनोवर्गणा द्वारा निष्पन्न हुए द्रव्यमन अवलम्बन से अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति की उत्पत्ति मनः पर्याप्ति है। (मू. १२३८) आ.

**१५२.प्रश्न : मनोबल और मनःपर्याप्ति में क्या अन्तर है ?**

**उत्तर :** मनोबल का मनःपर्याप्ति में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि मनोवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय को और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक मानने में विरोध आता है। (ध. २/४१४)

**१५३.प्रश्न :** किन-किन जीवों के कितनी-कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ?

**उत्तर :** पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनप्राण ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण और भाषा ये पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं।

संज्ञी जीवों के आहार आदि मनःपर्याप्ति पर्यन्त छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। (मू. १०४८-४९)

**१५४.प्रश्न :** इन पर्याप्तियों की पूर्णता का काल कितना-कितना है ?

**उत्तर :** शरीर को ग्रहण करने के प्रथम समय से लेकर एक अन्तर्मुहूर्त में आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है।

शरीर पर्याप्ति आहारपर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। भाषा पर्याप्ति भी आनपान पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। मनः पर्याप्ति भी भाषा पर्याप्ति के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम से होती है। (ध. १/२५७-५८)

**१५५.प्रश्न :** पर्याप्तियों का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल कितना है ?

**उत्तर :** पर्याप्तियों का स्थिति काल तिर्यञ्च और मनुष्यों के जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण है, कुछ कम उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। देव-नारकियों का जघन्य से दस-हजार वर्ष और उत्कृष्ट से तैंतीस सागरोपम प्रमाण पर्याप्तियों का काल है। यहाँ पर पर्याप्तियों एवं जीवित अवस्था का काल समान कहा गया क्योंकि स्थितिकाल पृथक् से नहीं कहा गया है। (मू. १०५० आ.)

**१५६.प्रश्न :** किन-किन जीवों के कितने-कितने समय में पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं ?

**उत्तर :** ये पर्याप्तियाँ तिर्यञ्च और मनुष्यों के एक समय कम दो घड़ी (१ समय कम ४८ मिनट) काल रूप अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्त होती हैं तथा उपपाद से जन्म लेने वाले देव-नारकियों के शरीर-अवयवों की रचना रूप पर्याप्तियों की पूर्णता प्रति समय होती है। (मू. १०५०) आ.

नारकी एक अन्तर्मुहूर्त काल में छह पर्याप्तियों को पूर्ण कर आकस्मिक भय से युक्त होता है। (ति.प. २/३१४)

भवनवासियों के भवन में उत्पन्न होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। (ति.प. ३/२१०)

सुरलोक के देव एक मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। (ति.प. ८/५९०)

**१५७.प्रश्न :** देव-नारकियों एवं मनुष्य-तिर्यञ्चों की पर्याप्तियों की पूर्णता में ऐसा अन्तर क्यों है ?

**उत्तर :** यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि देव और नारकियों के शरीर के सर्व अवयवों की पूर्णता पर्याप्तियों की पूर्णता के काल में ही हो जाती है, शेष सभी जीवों के नहीं होती, क्योंकि जिस काल में देव-नारकियों के आहार आदि कारणों की पूर्णता होती है उसी काल में उनके शरीर आदि कार्यों की रचना पूर्ण हो जाती है। पुनः तिर्यञ्च और मनुष्यों के लघु काल के द्वारा आहार आदि कारणों की पूर्णता रूप पर्याप्ति हो जाती है किन्तु शरीर आदि की पूर्णता बहुत काल में हो पाती है। इसलिए सभी उपपाद जन्म वालों के समय-समय में पर्याप्तियाँ होती हैं और तिर्यञ्च, मनुष्यों के अन्तर्मुहूर्त से होती है, ऐसा कहा गया है। (मू. १०५० आ.)

**१५८.प्रश्न :** पर्याप्ति और प्राण में क्या अन्तर है ?

**उत्तर :** पर्याप्ति और प्राण में हिमवान और विन्ध्याचल के समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनों में अन्तर है। (ध. १/२५८)

कारण और कार्य के भेद से भी इनमें भेद पाया जाता है (पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है)। तथा पर्याप्तियों में आयु का सद्भाव नहीं होने से और मन बल, वचन बल तथा श्वासोच्छ्वास इन प्राणों के अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाये जाने से भी पर्याप्ति और प्राणों में भेद समझना चाहिए। (ध. १/२५९)

इन्द्रियादि में विद्यमान जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवन के कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। (ध. १/२५९-६०)

इस प्रकार दोनों में भेद समझना चाहिए।

**नोट :** प्राणों का विशेष वर्णन देखें (२/१४)

**१५९.प्रश्न :** यदि पर्याप्ति नामकर्म न हो तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** यदि पर्याप्ति नामकर्म न हो, तो सभी जीव अपर्याप्त ही हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि पर्याप्त जीव का भी सद्भाव पाया जाता है। (ध. ६/६२)

**१६०.प्रश्न :** अपर्याप्त नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** छह पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप्ति है। (मू. १२३८) आ. जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियों में से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने में असमर्थ होता है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। (रा.वा. ३३)

जो पर्याप्तियों के अभाव का हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। (सर्वा. ७५५)

**१६१.प्रश्न :** अपर्याप्तक (लब्ध्यपर्याप्तक) किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** अपर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों के शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं। (ध. १/२७०)

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके (उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में ही) मरण को प्राप्त हो जाते हैं। वे लब्धि अपर्याप्त कहे गये हैं। (गो.जी. १२२)

जो जीव श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है, एक भी पर्याप्ति को समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं। (का.अ. १३७)

**१६२.प्रश्न :** निर्वृत्यपर्याप्तक किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** पर्याप्ति नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों की सम्पूर्णता की शक्ति से युक्त होते हैं। जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीर पर्याप्ति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवस्था को निवृत्ति अपर्याप्त कहते हैं। (गो.जी. १२१)

जीव पर्याप्ति को ग्रहण करते हुए जब तक मनःपर्याप्ति समाप्त नहीं कर लेता तब तक निर्वृत्य-पर्याप्त कहा जाता है। और जब मनःपर्याप्ति पूर्ण कर लेता है तब पर्याप्त कहलाता है। (का.अ. १३६)

**१६३.प्रश्न :** स्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** स्थिर भाव का निर्वर्तक स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है वह स्थिर नामकर्म है। (रा.वा. ३४) जिस कर्म के उदय से रसादि सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर आदि सात धातुओं की स्थिरता, अविनाश, अगलन (गलना न हो) हो वह स्थिर नामकर्म है। (ध. ६/६३)

**१६४.प्रश्न :** सात धातु एवं उपधातु कौन-कौन सी हैं ?

**उत्तर :** रस, रुधिर, मेद, मज्जा, हड्डी, मांस और शुक्र ये सात धातुएँ हैं। (मू. १२३८) आ. वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ये सात उपधातु हैं। (हरि. ५८/२७६)

**१६५.प्रश्न :** इन सात धातुओं का परिणमन किस क्रम से होता है ?

**उत्तर :** रस से रक्त बनता है, रक्त से मांस उत्पन्न होता है, मांस से मेदा पैदा होती है, मेदा से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा पैदा होती है, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्र से प्रजा (सन्तान) उत्पन्न होती है।



दो हजार पाँच सौ चौरासी कला और  $८ \frac{८}{९}$  काष्ठा काल तक रस स्वरूप से रहकर रुधिर रूप परिणत होता है। वह रुधिर भी उतने ही काल तक रुधिर रूप से रह कर मांस स्वरूप परिणत होता है, इसी प्रकार शेष धातुओं का भी परिणमन-काल कहना चाहिए। इस तरह एक मास के द्वारा रस शुक्र रूप से परिणत होता है। (ध. ६/६३-६४)

**१६६.प्रश्न :** स्थिर नामकर्म न हो तो क्या होगा ?

**उत्तर :** यदि स्थिर नामकर्म न हो तो रस, रुधिर आदि धातुओं का स्थिरता के अभाव में गलना ही होगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि हानि और वृद्धि के बिना इन धातुओं का अवस्थान देखा जाता है। (ध. ६/६३)

**१६७.प्रश्न :** अस्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र, इन धातुओं का परिणमन होता है, वह अस्थिर नामकर्म है। (ध. ६/६३)

जिस कर्म के उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिर रूप परिणमन होता जाता है वह अस्थिर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है, जिस कर्म के उदय से एक आदि थोड़े से उपवास करने पर या साधारण शीत-उष्ण आदि से ही शरीर में अस्थिरता आ जाती है, या शरीर के अंगोपांग कृश हो जाते हैं, वह अस्थिर नामकर्म है। (रा.वा. ३५)

जिस कर्म के उदय से रसादिकों का आगे की धातुओं स्वरूप से परिणमन होता है वह अस्थिर नामकर्म है। (ध. १३/३६५)

**१६८.प्रश्न :** अस्थिर नामकर्म नहीं होगा तो क्या होगा ?

**उत्तर :** अस्थिर नामकर्म के अभाव में धातुओं के क्रमशः परिवर्तन का नियम न रहेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है। (ध. ६/६४)

**१६९.प्रश्न :** विग्रहगति में स्थिर और अस्थिर नामकर्म का उदय नहीं मानना चाहिए क्योंकि वहाँ सप्त धातुओं का अभाव है ?

**उत्तर :** ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सयोग केवली भगवान में परघात प्रकृति के समान विग्रहगति में उन (स्थिर-अस्थिर) प्रकृतियों का अव्यक्त उदय रूप से अवस्थान रहता है। (ध. ६/६४)

**१७०.प्रश्न :** आदेय नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** आदेयता, ग्रहणीयता और बहुमान्यता ये तीनों शब्द एक अर्थ वाले हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के आदेयता उत्पन्न होती है वह आदेय नामकर्म कहलाता है। (ध. ६/६५)

जिस कर्म के उदय से आदेय-प्रभा सहित शरीर होता है वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह आदेय नामकर्म है। (रा.वा. ३६)

जिसके उदय से जीव आदेय वाच्य-मान्य वचन वाला होता है वह आदेय है। (मू. १२३८) आ.

**१७१.प्रश्न : अनादेय नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** जिसके उदय से अनादेय-निष्प्रभ शरीर होता है वह अनादेय नामकर्म है। अथवा जिसके उदय से आदेय से विपरीत अर्थात् जीव अनादेय वाच्य-अमान्य वचन वाला होता है वह अनादेय नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी जीव गौरव को प्राप्त नहीं होता है वह अनादेय नामकर्म है। (ध. १३/३६६)

**१७२.प्रश्न : यशस्कीर्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** यश नाम गुण का है, उसके उद्भावन (प्रकटीकरण) को कीर्ति कहते हैं। जिसके उदय से विद्यमान या अविद्यमान गुणों का उद्भावन लोगों के द्वारा किया जाता है, उस कर्म की 'यशःकीर्ति' यह संज्ञा है। (ध. ६/६५-६६)

पुण्य गुणख्यापन में कारण कर्म यशस्कीर्ति नामकर्म है। पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है उसे यशस्कीर्ति नामकर्म जानना चाहिए। (रा.वा. ३८)

पुण्य गुणों का ख्यापन करने वाला यशःकीर्ति नामकर्म है। अथवा जिस कर्म के उदय से विद्यमान और अविद्यमान गुणों की ख्याति होती है वह यशःकीर्ति नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

**१७३.प्रश्न : यश और कीर्ति इन दोनों में अविशेषता होने से यशस्कीर्ति कहना पुनरुक्त दोष है ?**

**उत्तर :** यश का अर्थ गुण है और कीर्ति का अर्थ विस्तार है। अतः यश और कीर्ति दोनों एकार्थवाची नहीं हैं। (रा.वा. ३८)

**१७४.प्रश्न : अयशःकीर्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?**

**उत्तर :** यशःकीर्ति से विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है, जिसके उदय से विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोषों की प्रसिद्धि हो जावे वह अयशःकीर्ति नामकर्म है। (मू. १२३८)आ.

जिस कर्म के उदय से विद्यमान या अविद्यमान अवगुणों का उद्भावन लोक द्वारा किया जाता है, उस कर्म की 'अयशःकीर्ति' यह संज्ञा है। (ध. ६/६६)

**१७५.प्रश्न : तीर्थकर नामकर्म किसे कहते हैं ?**

उत्तर : आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थकर कर्मप्रकृति है, जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूति-युक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको तीर्थकर नामकर्म प्रकृति समझना चाहिए। (रा.वा. ४०)

जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है, वह तीर्थकर नामकर्म है। (ध. ६/६७)  
जिस कर्म के उदय से तीनों लोक में पूजा का हेतु परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थकर नामकर्म है। (मू. १२३८) आ.

जिस कर्म के उदय से जीव पाँच महा कल्याणकों को प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अंगों की रचना करता है, वह तीर्थकर नामकर्म है। (ध. १३/३६६)

१७६.प्रश्न : तीर्थकर प्रकृति के समान यहाँ चक्रवर्ती पद आदि की उत्पत्ति में भी कोई कर्म-प्रकृति निमित्त होनी चाहिए ?

उत्तर : तीर्थकर प्रकृति के समान गणधर आदि कर्मप्रकृति नहीं है, क्योंकि गणधरत्व आदि में अन्य निमित्त कारण है, नामकर्म प्रकृति नहीं। प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से गणधर पद प्राप्त होता है। चक्रवर्तित्व, वासुदेव, बलदेव आदि पद उच्चगोत्र निमित्तक हैं अतः इनका पृथक् निर्देश नहीं किया है। (रा.वा. ४१)

१७७.प्रश्न : चक्रवर्तित्व आदि के समान तीर्थकर पद भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम वा उच्चगोत्र कर्म के निमित्त से हो जायेगा, अतः तीर्थकर प्रकृति से कोई प्रयोजन नहीं है ?

उत्तर : तीर्थकर प्रकृति का फल तीर्थ की प्रवृत्ति करना है, वह तीर्थ प्रवृत्ति रूप फल तीर्थकर प्रकृति के उदय से ही होता है, उच्च गोत्र के उदय से नहीं, क्योंकि उच्च गोत्री तो चक्रवर्ती आदि भी हैं, परन्तु वे तीर्थकर नहीं हैं अतः तीर्थकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया है। (रा. वा. ४२)

१७८.प्रश्न : विहायोगति पर्यन्त प्रकृतियों का प्रत्येकशरीर आदि प्रकृतियों के साथ एक समास क्यों नहीं किया ?

उत्तर : विहायोगति आदि में प्रतिपक्षी का अभाव है अतः इनका प्रत्येकशरीर आदि के साथ एकत्व भाव का अभाव है और प्रत्येकशरीर आदि प्रकृतियों का सेतर यानी प्रतिपक्ष से सम्बन्ध करना है अतः सबका एक समास नहीं किया है। (रा.वा. ४३)

१७९.प्रश्न : तीर्थकर प्रकृति का पृथक् ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : सर्व शुभ कर्म प्रकृतियों में तीर्थकर प्रधानभूत है, सर्वोत्कृष्ट है, अन्त्य है। प्रत्यासन्ननिष्ठ (चरम शरीरी) के ही इसका उदय देखा जाता है, अतः सूत्र में इस तीर्थकर प्रकृति का पृथक् निर्देश किया गया है। (रा.वा. ४४-४५)

गोत्र कर्म के भेद

**उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥**

उच्चैः नीचैः च ।

अर्थ - उच्च गोत्र और नीच गोत्र, ये गोत्र कर्म के दो भेद हैं।<sup>१</sup>

उच्च गोत्र - जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है वह उच्च गोत्र है।

नीच गोत्र - निन्दनीय कुल में जन्म होना नीचगोत्र है।

१. प्रश्न : उच्च गोत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से लोकपूजित, महत्त्वशाली, इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश और ज्ञानी आदि विशेष कुल में जन्म होता है, वह उच्चगोत्र है। (रा.वा. २)

गोत्र, कुल, वंश, सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। जिस कर्म के उदय से जीवों के उच्चगोत्र, कुल या वंश होता है वह उच्चगोत्र कर्म है। (ध. ६/७७-७८)

गोत्र कर्म निष्फल है यह बात नहीं है, क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्च गोत्र है।<sup>२</sup> (ध. १३/३८९)

२. प्रश्न : गोत्र कर्म कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : गोत्र कर्म के दो भेद हैं - १. उच्च गोत्र और २. नीच गोत्र।

गोत्र कर्म के छह भेद हैं - १. उच्च उच्च २. उच्च ३. उच्च नीच ४. नीच उच्च ५. नीच ६. नीच नीच गोत्र।

१. उच्च उच्च : जिनका उच्च कुल हो और उच्च आवरण हो जैसे शलाका पुरुष।  
२. उच्च गोत्र : आचरण सम्बन्धी ज्ञान। ३. उच्च नीच : उच्च कुल में उत्पन्न हो लेकिन आचरण निम्न हो। ४. नीच उच्च : नीच कुल में जन्म हो और आचरण भी नीच हो। ५. नीच गोत्र : खोटा कुल, सामान्य आचरण हो। ६. नीच नीच : नीच कुल में जन्म लेकिन आचरण उच्च हो। (ध.पु. ७ के आधार से) सूत्र में दिये गये 'च' से सम्भवतः इन छह भेदों को ग्रहण कर सकते हैं।

३. प्रश्न : किन-किन जीवों के उच्च गोत्र का ही उदय पाया जाता है ?

१. कर्मभूमि में पैदा होने वाले मनुष्यों में गोत्रपरिवर्तनशीलता होती है। इसी बात को सूत्रकार ने 'चकार' से सूचित किया है।

२. जो उचितज्ञाता, सन्तोषधारणादि परिणामों के द्वारा देवों के साथ समानता रखते हों, वे उच्चगोत्र वाले हैं।

उत्तर : (१) भवनत्रिक, वैमानिक देव, सभी देवियों के उच्च गोत्र का ही उदय है। (गो.क.३०४)

(२) भोगभूमिया मनुष्यों के उच्चगोत्र का ही उदय है। (गो.क. ३०२)

(३) चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थकर, तीर्थकर के माता-पिता आदि महापुरुषों के उच्च गोत्र का ही उदय होता है।

(४) संयमासंयम को पालने वाले तिर्यज्चों के उच्चगोत्र पाया जाता है। (ध. १५/१५२)

४. प्रश्न : नीच गोत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुःखित, परम्परा से नीच आचरण करने वाले दुःखाकुल और हीन कुल में प्राणियों का जन्म होता है वह नीचगोत्र है। (रा.वा.३) उच्चगोत्र से विपरीत कर्म नीचगोत्र है, जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार नहीं है, साधु आचार वालों के साथ जिसने सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त नहीं हैं उन पुरुषों की परम्परा को नीच गोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म नीचगोत्र है। (ध.१३/३८९)<sup>१</sup>

५. प्रश्न : किन जीवों के नीच गोत्र का ही उदय पाया जाता है ?

उत्तर : (१) सभी नरकों में नारकियों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। (गो.क. २९०)

(२) कर्म भूमिया एवं भोग भूमिया सभी तिर्यज्चों के नीचगोत्र का उदय होता है। (गो.क. २९४)

(३) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। (गो.क. २९५)<sup>२</sup>

अन्तराय कर्म के उत्तर भेद

**दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३ ॥**

**दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्याणाम् ।**

अर्थ - दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं।

दानान्तराय - जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी न दे सके, वह दानान्तराय कर्म है।

लाभान्तराय - जिसके उदय से लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता वह लाभान्तराय कर्म है।

१. जो लोग निर्विचार चेष्टा, क्रूरपना, मायाचार आदि परिणामों के द्वारा नारकियों और पशुओं से समानता लिये हुए हैं, वे नीच हैं, ऐसा समझना चाहिए।

२. कुभोगभूमि के मनुष्यों के समान आचार-व्यवहार होने से उनमें सदा ही नीचता मानी गई है।

**भोगान्तराय** - जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता है, वह भोगान्तराय कर्म है।

**उपभोगान्तराय** - जिसके उदय से उपभोग की इच्छा होने पर भी उपभोग नहीं कर सकता है, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

**वीर्यान्तराय** - जिसके उदय से कार्य करने का उत्साह होने पर भी निरुत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

१. प्रश्न : भोग और उपभोग में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों सुखानुभव में निमित्त हैं?

उत्तर : यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभव में निमित्त हैं तथापि एक बार भोगने में आने वाली गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र, अन्न, पानादि वस्तुओं में भोग का व्यपदेश होता है और शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ आदि बार-बार भोगने में आने वाली वस्तुओं में उपभोग व्यपदेश होता है। (रा.वा. ३)

२. प्रश्न : अन्तराय कर्म के उदय से जीव की कैसी स्थिति बनती है ?

उत्तर : जो प्राणी दूसरों के दान देने और पाने में बाधक होते हैं वे भव-भव में दरिद्र ही होते हैं।

जो किसी को होते हुए लाभ में अकारण ही अडंगा लगा देते हैं उनकी सम्पत्ति कमाने की इच्छा असफल ही रहती है। अपने-अपने पुण्य के फलस्वरूप भोगों का रस लेने वालों के मार्ग में जो बाधक होते हैं वे स्वयं भी सब ही भोगों से वञ्चित रह जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे के उपभोग भोगने के मार्ग में रोड़े अटकाये हैं वे सम्पत्ति आदि साधनों को पाकर भी उपभोगों के आनन्द से वञ्चित ही रह जाते हैं।

दूसरों की शक्ति वीर्य के विकास मार्ग में जो काँटे बोते हैं वे भी इस संसार में शक्तिहीन और अक्षम होते हैं। (व.चा. ४/१०१-३)

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति

**आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥**

आदितः तिसृणां-अन्तरायस्य च त्रिंशत्-सागरोपम-कोटीकोट्यः परा स्थितिः ।

(आदितस्तिसृणां) आदि के तीन कर्मों की (अन्तरायस्य च) तथा अन्तराय कर्म की (त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः) तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण (परा) उत्कृष्ट (स्थितिः) स्थिति होती है।

अर्थ - आदि के तीन कर्मों की तथा अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : स्थिति-बन्ध कितने प्रकार का होता है ? स्थिति-बन्ध दो प्रकार का होता है- उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और जघन्य स्थितिबन्ध। यदि स्थितिबन्ध दो प्रकार का है तो कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है, ऐसा प्रश्न होने पर सर्वप्रथम ज्ञानावरणादि कर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १४)

२. प्रश्न : सूत्र में 'आदि' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'आदि' शब्द का ग्रहण मध्य और अन्त के कर्मों की निवृत्ति के लिए है। आदि के ही तीन लेना, मध्य के और अन्त के तीन नहीं ग्रहण करना इसलिए आदि शब्द का ग्रहण किया है। यहाँ प्रकार अर्थ में 'तस्' प्रत्यय हुआ है। व्याकरण के नियमानुसार 'आद्यादिभ्यः उपसंख्यानं' इस सूत्र से आदि शब्द में 'तस्' प्रत्यय हुआ है। (रा.वा.१)

३. प्रश्न : सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण अवधारणा के लिए है। यदि तीन (तिसृणां) का ग्रहण नहीं करते तो अवधारणा नहीं होती, सिर्फ आदि का ही ग्रहण होता अतः अवधारणा के लिए सूत्र में 'तिसृणां' शब्द का ग्रहण किया है। (रा.वा. २)

४. प्रश्न : सूत्र में 'परा' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'परा' इस शब्द का ग्रहण जघन्या स्थिति की निवृत्ति के लिए है, परा और उत्कृष्टा ये एकार्थवाची हैं। (रा.वा. ५)

५. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'कोटीकोट्यः' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'कोटीकोट्यः' पद राजपुरुष की तरह बहुवचन है। जैसे- राजा का पुरुष राजपुरुष, इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास है वैसे ही कोटियों की कोटी इसमें षष्ठी तत्पुरुष समास जानना चाहिए। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोटाकोटी होता है। (रा.वा. ४)

६. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी बँधती है ?

उत्तर : ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ अन्तराय की पाँच तथा असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मूल प्रकृतियों के समान तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। (गो.क. १२८)

७. प्रश्न : इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति किसके बँधती है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की तीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है। (रा.वा. ६)

८. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : पर्याप्तक एकेन्द्रिय के ज्ञानावरणादि कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध  $\frac{३}{७}$  सागर अर्थात् एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण होता है।

द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण (  $\frac{७५}{७}$  )।

त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के पचास सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण (  $\frac{१५०}{७}$  )।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण (  $\frac{३००}{७}$  )।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण (  $\frac{३०००}{७}$  )।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है।

(रा.वा.७)

९. प्रश्न : अपर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यात भाग कम अपने पर्याप्तक की अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम  $\frac{३}{७}$  सागर प्रमाण है।

इसीप्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अपनी-अपनी पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम है।

(रा.वा.७)

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति-

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

सप्ततिः मोहनीयस्य।

अर्थ - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र क्यों लिखा गया है ?

उत्तर : जिस कर्म की स्थिति का उल्लंघन करके जो अन्य (अन्तराय) की स्थिति कही गई है,



उस वेदनीय कर्म के अन्त में कथित कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र लिखा गया है। (रा.वा. उ. १५)

२. प्रश्न : मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (रा.वा.१)

३. प्रश्न : सूत्र में 'सागरोपम' आदि पद नहीं है फिर ऐसा अर्थ कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर : 'सागरोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः' इसका अनुवर्तन ऊपर के सूत्र (१४) से कर लेना चाहिए। जिससे यह अर्थ हो जाता है। (रा.वा. १)

४. प्रश्न : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। (रा.वा.१)

५. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवों के दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय पर्याप्तक के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध एक सागर प्रमाण है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के सत्तर कोटा कोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है। (रा.वा. १)

६. प्रश्न : क्या मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है ?

उत्तर : नहीं, कुछ अन्तर है- मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का चालीस कोटाकोटी सागर प्रमाण, हास्य, रति तथा पुरुष वेद का दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

अरति-शोक, भय, जुगुप्सा तथा नपुंसक वेद का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्त्रीवेद का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो.क. १२८-१३३)

७. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों में चारित्र मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : पर्याप्तक एकेन्द्रिय के अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध  $\frac{४}{७}$  सागर, हास्य-रति तथा पुरुष वेद का  $\frac{१}{७}$  सागर, अरति-शोक, भय-जुगुप्सा का  $\frac{२}{७}$  सागर तथा स्त्री वेद का  $\frac{३}{१४}$  सागर प्रमाण होता है।

पर्याप्त द्वीन्द्रिय के अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध  $\frac{१००}{७}$  सागर, हास्यादि का  $\frac{२५}{७}$  सागर, अरति आदि का  $\frac{५०}{७}$  सागर तथा स्त्रीवेद का  $\frac{७५}{७}$  सागर प्रमाण होता है।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण जानना चाहिए। (गो.क. १४५)

८. प्रश्न : अपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवों के इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : अपर्याप्तक एकेन्द्रिय के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास सागर प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (रा.वा.१)

नोट : यह मोहनीय कर्म की सामान्य स्थिति की अपेक्षा कहा गया है। उसकी उत्तर प्रकृतियों का जो अपना-अपना उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है उसी के अनुसार त्रैराशिक करना चाहिए।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-

**विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६ ॥**

विंशतिः नामगोत्रयोः ।

(नामगोत्रयोः) नाम और गोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (विंशतिः) बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

अर्थ - नाम और गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : नाम एवं गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नाम कर्म का सामान्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। तथा उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का वर्णन आगे किया जायेगा। (क.प्र. १२२)

गोत्र कर्म में से उच्चगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण तथा नीच गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (क.प्र. १२५-२७)

२. प्रश्न : नाम एवं गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नाम कर्म के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के स्वामी को आगे बतायेंगे।

गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। (गो.क. १३८)

३. प्रश्न : उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थितिबन्ध के कारण तीव्र मन्दादि रूप स्थिति बन्धाध्यवसाय-स्थानों में उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के लिए कारण ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम हैं। इनके पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण खण्ड करके अंतिम खण्ड में तीव्र कषाय रूप जो परिणाम हैं उन्हें उत्कृष्ट संक्लेश कहते हैं। (गो.क. १३७-३८)

४. प्रश्न : ईषत् संक्लेश एवं मध्यम संक्लेश परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध के कारणभूत असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम के पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण खण्ड करके प्रथम खण्ड में जितने परिणाम हैं वे अल्प कषाय रूप हैं इनको ईषत् संक्लेश कहते हैं। एवं दोनों खण्डों के बीच जो खण्ड हैं उनमें जो परिणाम यथासम्भव पाये जाते हैं उनको मध्यम संक्लेश परिणाम कहते हैं। (गो.क.जी. १३७-३८)

इसी प्रकार उत्कृष्ट से एक-एक समय घटते हुए जघन्य स्थिति पर्यन्त जितने स्थिति के भेद हैं, उन सभी को जानना चाहिए। (गो.क. १३७-३९)

५. प्रश्न : पर्याप्तक एकेन्द्रिय आदि जीवों के नाम और गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों के पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (रा.वा.१)

६. प्रश्न : अपर्याप्तक जीवों के नाम-गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के नाम-गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तः कोटाकोटी प्रमाण, एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण जानना चाहिए। (रा.वा.१)

७. प्रश्न : गति और जाति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है, मनुष्यगति का पन्द्रह (१५) कोटाकोटी सागर, देवगति का दस कोटाकोटी

सागर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जाति का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो.क. १२८-३३)

८. प्रश्न : गति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नरकगति एवं देवगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव करते हैं। तिर्यञ्च का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव व मिथ्यादृष्टि नारकी करते हैं। मनुष्यगति का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले करते हैं। (गो.क. १३७-३८)

९. प्रश्न : जाति नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मिथ्यादृष्टि देव एवं पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गति के जीव करते हैं।

विकलत्रय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव करते हैं। (गो.क. १३७-३८)

१०. प्रश्न : शरीरबन्धन संघात एवं अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : औदारिक, वैक्रियिक, तैजस तथा कार्मण शरीर का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

आहारक शरीर का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण है। (इसी प्रकार पाँच संघात एवं पाँच बन्धन जानने चाहिए।)

औदारिक एवं वैक्रियिक अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध बीस कोटा कोटी सागर प्रमाण है।

आहारक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो.क. १२८-१३३)

११. प्रश्न : शरीर एवं शरीर-अंगोपांग का बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीरांगोपांग नाम कर्म का बन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारकी जीव ही करते हैं।

वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं।

आहारक शरीर और आहारक शरीरांगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध प्रमत्तगुणस्थान के अभिमुख संक्लेश परिणामी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव करता है। (गो.क. १३६-३८)

१२. प्रश्न : निर्माण नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना और किसके होता है ?

उत्तर : निर्माण नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो.क. १३१) इसका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीवों के होता है। (गो.क. १३८)

१३. प्रश्न : संस्थान एवं संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रर्षभनाराच संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान एवं वज्रनाराचसंहनन का बारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्वाति संस्थान एवं नाराच संहनन का चौदह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। कुब्जक संस्थान एवं अर्धनाराचसंहनन का सोलह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। वामन संस्थान एवं कीलक संहनन का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

हुण्डक संस्थान एवं असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो.क. १२९)

१४. प्रश्न : संस्थान एवं संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : आदि के पाँच संहनन एवं छहों संस्थानों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं।

असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव एवं नारकी करते हैं। (गो.क. १३८)

१५. प्रश्न : स्पर्शादि चार, चार आनुपूर्वी, अगुरुषट्क एवं विहायोगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास तथा अप्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

मनुष्य गत्यानुपूर्वी का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

देवगत्यानुपूर्वी एवं प्रशस्त विहायोगति का दस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। (गो.क. १२८-३३)

१६. प्रश्न : स्पर्शादि उपर्युक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : नरक गत्यानुपूर्वी एवं देव गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीव ही करते हैं।

तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी एवं उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारकी जीव ही करते हैं।

आतप नामकर्म को (मिथ्यादृष्टि) देव बाँधते हैं।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास एवं विहायोगति का उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। (गो.क. १३८)

१७. प्रश्न : प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर, त्रस, पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। सुभग, सुस्वर, शुभ, स्थिर, आदेय और यशस्कीर्ति का दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

सूक्ष्म नामकर्म का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो. क. १२९-३३)

१८. प्रश्न : उपर्युक्त प्रत्येक शरीर आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : सूक्ष्म को छोड़कर शेष प्रत्येक शरीर आदि उपर्युक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं।

सूक्ष्म प्रकृति का बन्ध (उपर्युक्त परिणाम वाले) मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं। (गो.क. १३८)

१९. प्रश्न : साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : साधारण शरीर, अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो.क. १२९-३३)

२०. प्रश्न : उपर्युक्त साधारण शरीर आदि नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : साधारण शरीर एवं अपर्याप्तक नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यञ्च (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त) जीव ही करते हैं।

स्थावर नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव करते हैं। दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अस्थिर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। (गो.क. १३८)

२१. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो.क.१३३) तीर्थकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति को (दूसरे या तीसरे) नरक में जाने के सम्मुख हुआ (क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि) असंयत मनुष्य ही बाँधता है। तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करने वाले नरकगति के अभिमुख असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीव्र संक्लेश पाया जाता है। (गो.क. १३६)

आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध

**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥**

**त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाणि-आयुषः ।**

(आयुषः) आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध (त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि) तैंतीस सागरोपम प्रमाण होता है।

अर्थ - आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तैंतीस सागरोपम प्रमाण होता है।

१. प्रश्न : आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कितना है ?

उत्तर : आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तैंतीस सागरोपम प्रमाण है। (त.सू. ८/१६)

नोट : नरकादि आयु का पृथक्-पृथक् स्थिति-बन्ध पूर्व में बताया जा चुका है।

२. प्रश्न : इन चारों आयु का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव करते हैं। शेष तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च जीव ही करते हैं। (गो.क. १३६-३८)

३. प्रश्न : सूत्र में पुनः 'सागरोपम' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में सागरोपम का प्रकरण होने पर भी पुनः 'सागरोपम' पद का ग्रहण कोटाकोटी की निवृत्ति के लिए है। उत्कृष्ट स्थिति के लिए 'परा स्थितिः' पद का अनुवर्तन कर लेना चाहिए। (रा.वा.१)

४. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयुर्कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्य के आठवें भाग से कुछ अधिक है (क्योंकि वह ज्योतिष्क देवों में जा सकता है)। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों के एक पूर्व कोटि प्रमाण है क्योंकि वह नरक, देव एवं भोगभूमि में नहीं जा सकता। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के तैंतीस सागर (नरक सम्बन्धी), मनुष्यों के तैंतीस सागर (नरक एवं स्वर्ग सम्बन्धी) भोगभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चों के दो सागर क्योंकि वे दूसरे स्वर्ग से आगे नहीं जाते, देव-नारकियों के एक पूर्व कोटि प्रमाण क्योंकि वे नरक, देव एवं भोगभूमि में नहीं जाते।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति-

## अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

(वेदनीयस्य) वेदनीय कर्म की (अपरा) जघन्य स्थिति (द्वादशमुहूर्ता) बारह मुहूर्त प्रमाण होती है।

अर्थ - वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

१. प्रश्न : वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : वेदनीयकर्म में सातावेदनीयकर्म का जघन्य स्थिति बन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण तथा असाता वेदनीय का जघन्य स्थिति-बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण होता है। (ध. ६/१८४)

२. प्रश्न : सर्वप्रथम वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध क्यों कहा है ?

उत्तर : अन्य कर्मों की जघन्य स्थिति से इस सातावेदनीय कर्म का कुछ विशेष जघन्य बन्ध है अतः आनुपूर्वी (क्रम) का उल्लंघन करके सर्वप्रथम स्वसंवेद्य जिसका फल है ऐसे वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कहा है। (रा.वा.उ. १८)

३. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम  $\frac{३}{७}$  सागर, द्वीन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम  $\frac{७५}{७}$  सागर, त्रीन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम  $\frac{१५०}{७}$  सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम  $\frac{३००}{७}$  सागर तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के पल्य के संख्यातवें भाग कम  $\frac{३०००}{७}$  सागर प्रमाण होता है। (ध. ६/१९६)

४. प्रश्न : वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : वेदनीय कर्म में साता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध सूक्ष्म साम्पराय क्षपक अपने अन्तिम समय में करता है (ध. ६/१८६) तथा असाता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव करता है। (गो.क. १४३)

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

## नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

नाम-गोत्रयोः अष्टौ।

(नामगोत्रयोः) नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध (अष्टौ) आठ मुहूर्त प्रमाण होता है।

अर्थ - नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण है।

१. प्रश्न : क्रम का उल्लंघन करके नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पहले क्यों कहा है ?



उत्तर : आनुपूर्वी विशेष का उल्लंघन करके जघन्य स्थिति का वर्णन करने पर मोहनीय कर्म और आयु कर्म से व्यवहित अर्थात् जिनका बन्ध मोहनीय एवं आयु कर्म के आधीन है, ऐसे नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कितनी है ? ऐसी शंका होने पर आचार्य महाराज ने यहाँ नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कही है। (रा.वा.उ. १९)

२. प्रश्न : नाम कर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : नाम कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण होता है। (त.सू. ८/१९)

नोट : शेष उत्तर प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध एवं उसके स्वामी का विचार आगे किया जा रहा है।

३. प्रश्न : गति एवं जाति नामकर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध कितना होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गति एवं मनुष्यगति का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम  $\frac{२}{७}$  सागर (सागरोपम के सात भागों में से दो भाग) प्रमाण होता है। (ध. ६/१९०) नरकगति एवं देवगति नामकर्म का जघन्य स्थिति-बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग प्रमाण होता है। (ध. ६/१९४)

४. प्रश्न : गति एवं जाति का जघन्य स्थिति बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति एवं एकेन्द्रिय आदि पाँच जाति नाम कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। (ध. ६/१९२) नरकगति एवं देवगति की जघन्या स्थिति सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के द्वारा बाँधी जाती है। (ध. ६/१९४)

एकेन्द्रिय आदि जाति का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण होता है। (ध. ६/१९०)

५. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांग नामकर्म का जघन्य स्थिति बन्ध कितना है ?

उत्तर : औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर एवं औदारिक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। (ध. ६/१९०) वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग है। (ध. ६/१९४)

आहारक शरीर एवं आहारक अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (ध. ६/१९७)

६. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांगों का जघन्य स्थिति-बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि अन्यत्र सर्व जघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। (ध. ६/१९२)

वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के द्वारा किया जाता है। (ध. ६/१९४)

आहारक शरीर एवं आहारक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध अपूर्वकरण के चरम समय से लेकर सप्तमभाग तक उतरे हुए अपूर्वकरण क्षपक के होता है। (ध. ६/१९७) आहारक शरीर एवं आहारक शरीर अंगोपांग का जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणी वालों के अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय आठवें गुणस्थान के छठे भाग में नियम से होता है। (गो.क. १४१)

७. प्रश्न : निर्माण, संस्थान, संहनन, स्पर्शादि चार, अगुरुलघु षट्क, दो विहायोगति, प्रत्येक शरीरादि दस एवं इससे विपरीत साधारण शरीरादि दस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : निर्माण, छह संहनन, छह संस्थान, स्पर्शादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, प्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय एवं अयशः कीर्ति इन बयालीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। (ध. ६/१९०)

८. प्रश्न : उपर्युक्त निर्माणादि अयशःकीर्ति पर्यन्त प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उपर्युक्त निर्माणादि अयशःकीर्ति पर्यन्त प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ग्रहण करना चाहिए क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। (ध. ६/१९२)

यशःकीर्ति का जघन्य स्थितिबन्ध चरमसमयवर्ती सकषायी जीव के होता है। (ध. ६/१९८)

९. प्रश्न : गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गत्यानुपूर्वी एवं मनुष्य गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है। (ध. ६/१९०) नरक गत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन सागरोपम सहस्र के दो बटे सात भाग है। (ध. ६/१९४)

१०. प्रश्न : गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : तिर्यग्गत्यानुपूर्वी एवं मनुष्य गत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध सर्वविशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्व जघन्य स्थिति बन्ध पाया नहीं जाता है। (ध. ६/१९२)

नरकगत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के होता है। (ध. ६/१९४)

११. प्रश्न : इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के सिवाय अन्यत्र क्यों नहीं पाया जाता है ?

उत्तर : विशिष्ट जातियों की विशुद्धि को देखकर ही स्थितिबन्ध के जघन्यता संभव है इसलिए बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के सिवाय उसका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। (ध. ६/१९२)

१२. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध कितना एवं किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (ध. ६/१९७) यह अपूर्वकरण के चरम समय से लेकर सप्तम भाग तक उतरे हुए अपूर्वकरण क्षपक के होता है। (ध. ६/१९७)

तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक श्रेणी वालों के अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय आठवें गुणस्थान के छठे भाग में नियम से होता है। (गो.क. १४१)

१३. प्रश्न : गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : गोत्र कर्म में से उच्च गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण तथा नीच गोत्र का पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। (ध. ६/१९०)

१४. प्रश्न : गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उच्चगोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध चरम समयवर्ती सकषायी जीव के होता है। (ध. ६/१९८) नीच गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र सर्वजघन्य स्थितिबन्ध पाया नहीं जाता है। (ध. ६/१९२)

१५. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के नाम और गोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम दो बटे सात सागर, द्वीन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास बटे सात ( $\frac{५०}{७}$ ) सागर, त्रीन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ( $\frac{१००}{७}$ ) सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम दो सौ बटे सात ( $\frac{२००}{७}$ ) सागर तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम दो हजार बटे सात ( $\frac{२०००}{७}$ ) सागर प्रमाण है। (ध. ६/१९४-१९६)

शेष कर्मों की जघन्य स्थिति-  
शेषाणामान्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

शेषाणां-अन्तः मुहूर्ता ।

(शेषाणां) शेष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय) कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध (अन्तर्मुहूर्ता) अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।

अर्थ - शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।

१. प्रश्न : किन-किन कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण (चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन), लोभ संज्वलन और पाँचों अन्तराय, इन पन्द्रह कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । (ध. ६/१८२)

२. प्रश्न : इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण एवं चार दर्शनावरण कर्म तथा पाँच अन्तराय का जघन्य स्थिति बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव के होता है तथा संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्ति करण गुणस्थान में होता है । (गो.क. १५१)

३. प्रश्न : दर्शनावरण की पाँच निद्राओं का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : दर्शनावरण की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यान गृद्धि इन पाँच निद्राओं का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के तीन बटे सात भाग प्रमाण है । (ध. ६/१८४)

४. प्रश्न : निद्रादि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि इन पाँच प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक के होता है । (गो.क. १४३)

५. प्रश्न : मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात बटे सात भाग प्रमाण है ।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के चार बटे सात भाग प्रमाण है ।

क्रोध संज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध दो मास प्रमाण है ।

मान संज्वलन का जघन्य स्थिति बन्ध एक मास प्रमाण है।

माया संज्वलन का जघन्य स्थिति बन्ध एक पक्ष प्रमाण है।

पुरुष वेद का जघन्य स्थिति बन्ध आठ वर्ष है।

स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातर्वे भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है। (ध. ६/१८६-९०)

नोट : सम्यक् प्रकृति एवं सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

६. प्रश्न : मिथ्यात्व कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कौन करता है ?

उत्तर : बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के आबाधास्थान विशेष स्वरूप एक रूप अधिक, आवली के असंख्यातर्वे भाग से एक आबाधा काण्डक को गुणा करके उसमें से एक कम करके सागरोपम में से घटा देने पर मिथ्यात्व कर्म की जघन्य स्थिति उत्पन्न होती है। (ध. ६/१८७)

७. प्रश्न : बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों में अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक में मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति बन्ध क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं क्योंकि बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों में अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों में वीचारस्थानों की बहुलता का अभाव है। (ध. पु. ६/१८७)

८. प्रश्न : अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी चतुष्क का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव करते हैं।

अप्रत्याख्यान चतुष्क एवं प्रत्याख्यान चतुष्क का भी इसी प्रकार जानना चाहिए। (गो.क. १४३) संज्वलन क्रोध, मान, माया का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण क्षपक के होता है। संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में होता है। (गो.क. १५१)

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद का जघन्य स्थितिबन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव करता है। (ध. ६/१९२) पुरुष वेद का जघन्य स्थिति बन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होता है। (गो.क. १५१)

९. प्रश्न : आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : नरकायु एवं देवायु का जघन्य स्थितिबन्ध दस हजार (१०,०००) वर्ष प्रमाण तथा मनुष्य आयु और तिर्यञ्च आयु का अन्तर्मुहूर्त अर्थात् क्षुद्रभव या उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। (गो.क. १४२)

१०. प्रश्न : चार आयुओं का जघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है ?

उत्तर : नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक या असंज्ञी पर्याप्तक जीव करते हैं। विशेष यह है कि सर्व विशुद्धि से विशुद्ध संज्ञी जीव या संक्लिष्ट परिणाम युक्त असंज्ञी जीव नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध करता है। देवायु का जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्धि से परिणत मिथ्यादृष्टि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव या तत्योग्य संक्लेश से परिणत संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव करता है। मनुष्य एवं तिर्यञ्च आयु का जघन्य स्थितिबन्ध तत्योग्य संक्लेश से युक्त कर्मभूमिया तिर्यञ्च, मनुष्यों के होता है। (पं.सं. ४३७-३९)

११. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर, द्वीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवे भाग कम २५ सागर, त्रीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास सागर, चतुरिन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण होता है। (ध.६/१९६)

१२. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के दर्शनावरणीय एवं अन्तराय का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीवों के दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम तीन बटे सात ( $\frac{३}{७}$ ) सागर, द्वीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम पचहत्तर बटे सात ( $\frac{७५}{७}$ ) सागर, त्रीन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम एक सौ पचास बटे सात ( $\frac{१५०}{७}$ ) सागर, चतुरिन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम तीन सौ बटे सात ( $\frac{३००}{७}$ ) सागर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्य के संख्यातवें भाग कम तीन हजार बटे सात ( $\frac{३०००}{७}$ ) सागर प्रमाण होता है। (ध. ६/१९५)

१३. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के मोहनीय कर्म का पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के असंख्यातवें भाग कम चार बटे सात ( $\frac{४}{७}$ ) सागर तथा नोकषाय का पल्य के असंख्यातवें भाग कम दो बटे सात ( $\frac{२}{७}$ ) सागर प्रमाण है।

द्वीन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर, कषाय वेदनीय का पल्योपम के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ( $\frac{१००}{७}$ ) सागर, नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम पचास बटे सात ( $\frac{५०}{७}$ ) सागर प्रमाण होता है।

त्रीन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के संख्यातवें भाग कम पचास ( ५० ) सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम दो सौ बटे सात ( $\frac{२००}{७}$ ) सागर तथा नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातवें भाग कम सौ बटे सात ( $\frac{१००}{७}$ ) सागर प्रमाण होता है।

चतुरिन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पल्य के संख्यातर्वे भाग कम सौ (१००) सागर, कषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातर्वे भाग कम चार सौ बटे सात ( $\frac{४००}{७}$ ) सागर प्रमाण है तथा नोकषाय वेदनीय का पल्य के संख्यातर्वे भाग कम ( $\frac{२००}{७}$ ) सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्य के संख्यातर्वे भाग कम एक हजार सागर, कषाय वेदनीय का चार हजार बटे ७ सागर ( $\frac{४०००}{७}$ ) सागर तथा नोकषाय वेदनीय का दो हजार बटे सात ( $\frac{२०००}{७}$ ) सागर प्रमाण है। (ध. ६/१९४-९५)

१४. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कितना होता है?

उत्तर : एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। (रा.वा. ३/३९)

### अनुभागादि बन्ध

अनुभव/अनुभाग बन्ध का लक्षण-

**विपाकोऽनुभवः ॥२१॥**

विपाकः- अनुभवः।

(विपाकः) फल देने को (अनुभवः) अनुभाग बन्ध कहते हैं।

अर्थ - उदय में आकर कर्मों के फल देने को अनुभव कहते हैं।

१. प्रश्न : विपाक किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के पूर्वोक्त के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। अथवा-

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद जनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। (रा.वा.१) कर्म के उदय एवं उदीरणा को विपाक कहते हैं। (ध. १४/१०) विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायों के तीव्र, मन्द आदि रूप भावास्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना विपाक है। अथवा - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्व रूप नाना प्रकार का पाक विपाक है। इसी को अनुभाग कहते हैं। (सर्वा. ७७४)

२. प्रश्न : अनुभाग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनुभाग दो प्रकार का होता है-

(१) शुभ अनुभाग (२) अशुभ अनुभाग। अथवा -

अनुभाग बन्ध चार प्रकार है - उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध, अनुत्कृष्ट अनुभाग बन्ध, जघन्य अनुभाग

बन्ध तथा अजघन्य अनुभाग बन्ध। इनमें से उत्कृष्टादि बन्ध भी चार-चार प्रकार का है। सादि, अनादि, ध्रुव एवं अध्रुव।

३. प्रश्न : शुभ एवं अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध किन परिणामों से होता है ?

उत्तर : शुभ परिणामों की प्रकर्षता से शुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में निकृष्ट अनुभाग पड़ता है।

अशुभ परिणामों की प्रकर्षता से अशुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग और शुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभाग पड़ता है। (रा.वा.१)

सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणामों से होता है और असातावेदनीयादि अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणामों से होता है, तथा इनसे विपरीत संक्लेश परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है तथा विशुद्ध परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। (गो.क. १६३)

४. प्रश्न : कर्मों का अनुभाग किस रूप में फलता है ?

उत्तर : आठ कर्मों की मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय को छोड़कर तुल्य जातीय उत्तर प्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी प्रवृत्त होता है।

नरकायु के मुख से तिर्यञ्चायु या मनुष्यायु का विपाक नहीं होता है और दर्शन मोह-चारित्रमोह रूप से और चारित्र मोह दर्शन मोह रूप से विपाक को प्राप्त नहीं होता है। (सर्वा. ७७४)

५. प्रश्न : कर्म प्रकृतियों का अनुभाग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अघातिया कर्मों में शुभ प्रकृतियों का अनुभाग चार प्रकार का है- गुड़, खांड, शर्करा और अमृत। जैसे इनमें क्रम से अधिक-अधिक मिठास होने से सुखदायक है वैसे प्रशस्त प्रकृति के स्पर्धक भी होते हैं।

अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग चार प्रकार का है-

(१) नीम (२) कांजीर (३) विष (४) कालकूट (हलाहल)। जिस प्रकार निम्ब, काञ्जीर, विष और हलाहल एक दूसरे की अपेक्षा अधिक-अधिक कटु होने से दुःखदायक हैं; उसी प्रकार निम्ब भाग, काञ्जीर भाग, विषभाग और हलाहल भाग रूप अप्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धक दुःख के कारण हैं।

घातिया कर्मों का अनुभाग चार प्रकार का है-

(१) लता (२) काष्ठ (३) हड्डी (४) शैल।



लता भाग से लेकर दारु भाग के अनन्तवें भाग पर्यन्त शक्तिरूप स्पर्धक देशघाती हैं। शेष दारु के अनन्त बहु भाग से अस्थि और शैल रूप स्पर्धक सर्वघाती हैं। (गो.क.जी. १८०)

६. प्रश्न : ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्म का जघन्य बंध किसके है ?

उत्तर : ज्ञानावरण की पाँच, पाँच अन्तराय, चक्षुदर्शनावरण आदि चार तथा निद्रा-प्रचला इन सोलह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध (क्षपक श्रेणी वाले के) अपनी-अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय होता है। (गो.क. १७०) स्त्यान-गृद्धि का जघन्य अनुभाग बन्ध अपने गुणस्थान में जो संयमगुण को धारण करने के सम्मुख हुआ है ऐसा विशुद्ध परिणामी जीव बाँधता है। (गो.क. १७०-७१)

नोट : ज्ञानावरणादि की बन्ध व्युच्छित्ति १०वें गुणस्थान में एवं निद्रा-प्रचला की ८वें गुणस्थान के दूसरे भाग में होती है।

७. प्रश्न : मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी चतुष्क का जघन्य अनुभाग बन्ध (सातिशय) मिथ्यादृष्टि के, अप्रत्याख्यान चतुष्क का (संयम के सम्मुख) असंयत सम्यग्दृष्टि के, प्रत्याख्यान चतुष्क का (संयम के सम्मुख) देशसंयत पंचम गुणस्थानवर्ती के होता है।

संज्वलन चतुष्क का अपनी व्युच्छित्ति के स्थान में (क्षपक श्रेणी में स्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव के) होता है। (गो.क. १७०-७१)

हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का अपनी व्युच्छित्ति के स्थान में (अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय) में करता है।

अरति, शोक को अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख हुए विशुद्ध प्रमत्त-गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है।

स्त्रीवेद एवं नपुंसक वेद को चारों गति के विशुद्ध परिणामी जीव बाँधते हैं। पुरुष वेद को अपनी बन्ध व्युच्छित्ति के स्थान अर्थात् (क्षपक श्रेणी में स्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती) जीव जघन्य अनुभाग सहित बाँधता है। (गो.क. १७०-७५)

८. प्रश्न : वेदनीय एवं आयु कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : साता एवं असाता वेदनीय का जघन्य अनुभाग बंध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव के होता है। (गो.क.जी. १७७) चारों आयु का जघन्य अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च बाँधता है। (गो.क.जी. १७२)

९. प्रश्न : चारों गति का जघन्य अनुभाग बंध कौन करता है ?

उत्तर : नरकगति को जघन्य अनुभाग सहित (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य-तिर्यञ्च जीव ही बाँधता है।

तिर्यञ्चगति को सप्तम नरक में (सम्यक्त्व के अभिमुख) विशुद्ध नारकी जीव बाँधता है।

मनुष्यगति एवं देवगति को परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव बाँधता है। (गो.क. १७२-७७)

१०. प्रश्न : पाँच जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध नरक बिना शेष तीन गति वाले तीव्र-विशुद्ध व संक्लेश रहित मध्यम परिणामी जीव करते हैं। (गो.क. १७३)

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध मनुष्य व तिर्यज्चों के होता है।

पंचेन्द्रिय जाति का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति के संक्लेश परिणामी जीव करते हैं। (गो.क. १७२-७५)

११. प्रश्न : पाँच शरीर एवं तीन अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बन्ध (संक्लिष्ट) देव एवं नारकियों के होता है।

वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग का बन्ध मनुष्य एवं तिर्यज्च जीव करते हैं।

आहारक शरीर-आहारक शरीर अंगोपांग इन दो शुभ प्रकृतियों को प्रमत्त-गुणस्थान के सम्मुख हुआ संक्लेश परिणाम वाला अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है।

तैजस एवं कार्मण शरीर का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट परिणामी जीवों के होता है। (गो.क.जी. १७२-७५)

१२. प्रश्न : निर्माण, संघात एवं संहनन नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है?

उत्तर : निर्माण नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट जीवों के, समचतुरस्र आदि छह संस्थान एवं वज्रर्षभनाराचादि छह संहननों का परिवर्तमान मध्यम परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि जीव करता है। (गो.क. १७२-७७)

१३. प्रश्न : प्रशस्त एवं अप्रशस्त स्पर्शादि का जघन्य अनुभाग बन्ध कौन करता है ?

उत्तर : प्रशस्त स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति सम्बन्धी संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

अप्रशस्त वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श का अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के स्थान में अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थित क्षपक के होता है। (गो.क. १७५-७७)

१४. प्रश्न : चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात एवं परघात का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : मनुष्य गत्यानुपूर्वी एवं देवगत्यानुपूर्वी का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

नरक गत्यानुपूर्वी का मनुष्य एवं तिर्यञ्च करता है।

तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी का सप्तम नरक में (सम्यक्त्व के अभिमुख) विशुद्ध नारकी जीव करता है।

अगुरुलघु एवं परघात का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति का संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

उपघात का जघन्य अनुभाग बन्ध अपनी व्युच्छित्ति के स्थान अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती बन्ध व्युच्छित्ति से पहले समय में करता है। (गो.जी. १७०-७७)

१५. प्रश्न : आतप, उद्योत, उच्छ्वास एवं विहायोगति का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : आतप नाम कर्म का बन्ध तीव्र परिणामी भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक के संक्लेश परिणामी (मिथ्यादृष्टि) देव के होता है।

उद्योत नामकर्म का बन्ध संक्लिष्ट परिणामी (मिथ्यादृष्टि) देव-नारकी करते हैं।

उच्छ्वास का बन्ध चारों गति के संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। अप्रशस्त विहायोगति एवं प्रशस्त विहायोगति का बन्ध मध्यम परिणामों से युक्त (मिथ्यादृष्टि) जीव के होता है। (गो.क. १७३-७७)

१६. प्रश्न : प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, सुभग-दुर्भग एवं सुस्वर-दुस्वर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर एवं त्रस नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध चारों गति के संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

साधारण शरीर का मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च के होता है।

स्थावर नामकर्म का मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्च करते हैं।

सुभग-दुर्भग एवं सुस्वर-दुःस्वर नामकर्म का मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। (गो.क. १७२-७७)

१७. प्रश्न : शुभ-अशुभ, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त एवं स्थिर-अस्थिर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : शुभ-अशुभ एवं स्थिर-अस्थिर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।

सूक्ष्म एवं अपर्याप्तक नामकर्म का मिथ्यादृष्टि मनुष्य एवं तिर्यञ्च के होता है।

बादर एवं पर्याप्त नामकर्म का चारों गति के तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। (गो.क. १७२-७७)

१८. प्रश्न : आदेय-अनादेय एवं यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति नामकर्म का जघन्य अनुभाग किसके होता है ?

उत्तर : आदेय-अनादेय का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

यशःकीर्ति एवं अयशःकीर्ति नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। (गो.क. १७७)

१९. प्रश्न : तीर्थंकर नामकर्म एवं गोत्र कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध नरक के सम्मुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के होता है।

नीच गोत्र का जघन्य अनुभाग बन्ध सातवें नरक में सम्यक्त्व के सम्मुख विशुद्ध परिणामी नारकी जीव के होता है।

उच्च गोत्र का जघन्य अनुभाग बन्ध परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करता है। (गो.क. १७३-७७)

२०. प्रश्न : ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क, प्रत्याख्यान चतुष्क, संज्वलन चतुष्क, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, नपुंसक वेद एवं पुरुष वेद का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के तीव्र परिणामी) मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। (गो.क.जी. १६८)

२१. प्रश्न : वेदनीय एवं आयु कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : साता वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक-श्रेणी में होता है। असातावेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि ही करते हैं।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के होता है। देवायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं। नरकायु का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि के होता है। (गो.क. १६५-६८)

२२. प्रश्न : चार गति एवं पाँच जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : नरकगति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्च) करते हैं। तिर्यञ्च गति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (देव-नारकी) के होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति का अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्च) करते हैं, पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी वाले करते हैं।

मनुष्यगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध देव-नारकी असंयत सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन के लिए तीन करण करते हुए अनिवृत्ति करण के अन्त समय में वर्तमान जीव के होता है।

देवगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी वाले जीव करते हैं। एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह माह शेष रहने पर करता है। (गो.क.जी. १६६-६८)

२३. प्रश्न : शरीर एवं अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : औदारिक शरीर एवं औदारिक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी के होता है। वैक्रियिक शरीर और वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, तैजस-कार्मण शरीर का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक के होता है। (गो.क. १६६)

२४. प्रश्न : निर्माण, छह संस्थान एवं छह संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है?

उत्तर : निर्माण एवं समचतुरस्र संस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक के होता है। न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाँच संस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

वज्ररूषभ नाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी के होता है। वज्रनाराचादि चार संहननों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के तीव्र परिणामी) मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि देव-नारकी करते हैं। (गो.क. १६६-६९)

२५. प्रश्न : प्रशस्त-अप्रशस्त वर्णादि चार एवं अनुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध कौन करता है?

उत्तर : प्रशस्त वर्ण, गन्ध, स्पर्श और रस का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में स्थित जीव करता है। अप्रशस्त वर्णादि का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध (चारों गति के) तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

नरक गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध मिथ्यादृष्टि (मनुष्य-तिर्यञ्चों) के होता है। तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव-नारकियों के होता है।

मनुष्य गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सम्यग्दृष्टि देव-नारकी करते हैं। देवगत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक (अपूर्वकरण-गुणस्थानवर्ती) जीव करता है। (गो.क.जी. १६६-६९)

२६. प्रश्न : अगुरुलघु षट्क एवं विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : अगुरुलघु, परघात एवं प्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक-अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं।

उपघात एवं अप्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है।

सातवें नरक में उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि विशुद्ध नारकी उद्योत का तीव्र अनुभाग बन्ध करता है क्योंकि अति विशुद्ध के उद्योत प्रकृति का बन्ध नहीं होता। आतप का, विशुद्ध परिणामवाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर तीव्र अनुभाग बन्ध करता है।

उच्छ्वास का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव करता है। (गो.क.जी. १६६-६९)

२७. प्रश्न : प्रत्येकशरीर आदि तीर्थकर पर्यन्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, बादर, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, यशः कीर्ति तथा तीर्थकर नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में होता है। स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, अस्थिर, अनादेय तथा अयशःकीर्ति का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

साधारण शरीर, सूक्ष्म तथा अपर्याप्त नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध संक्लेश परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च करते हैं। (गो.क.जी. १६६-६९)

२८. प्रश्न : गोत्र एवं अन्तराय कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध किसके होता है ?

उत्तर : उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध क्षपक श्रेणी में होता है। अन्तराय का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध चारों गति के तीव्र परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। (गो.क. १६६-६९)

२९. प्रश्न : परिवर्तमान मध्यम परिणाम और अपरिवर्तमान मध्यम परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो परिणाम संक्लेश अथवा विशुद्धि से प्रतिसमय बढ़ते ही जावें या घटते ही जावें, पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त न हों उन्हें अपरिवर्तमान परिणाम कहते हैं। तथा जो परिणाम एक अवस्था से दूसरी

अवस्था को प्राप्त होकर पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त हो सकें वे परिवर्तमान परिणाम हैं। (गो.क.जी. १७७)

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से परिणाम तीन प्रकार के हैं। यहाँ सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि परिणामों से जघन्य अनुभाग बन्ध नहीं होता, क्योंकि अप्रशस्त-प्रकृतियों के अनुभाग से अनन्तगुणा अनुभाग प्रशस्त प्रकृतियों का होता है। अतः उनमें अनन्तगुणी वृद्धि का प्रसङ्ग है। तथा सर्वोत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से भी जघन्य अनुभाग बन्ध नहीं होता क्योंकि तीव्र संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग की वृद्धि का प्रसंग आता है अतः जघन्य अथवा उत्कृष्ट परिणामों का निराकरण करने के लिए परिवर्तमान मध्यम परिणामों से पूर्वोक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। (गो.क.जी. १७७)

३०. प्रश्न : कर्मों का विपाक कितने प्रकार से होता है ?

उत्तर : कर्मों का विपाक चार प्रकार से होता है-

(१) पुद्गल विपाकी (जो शरीर के आश्रय से फल दे)- शरीर नाम कर्म से लेकर स्पर्श पर्यन्त पचास प्रकृतियाँ, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और निर्माण ये बासठ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं।

(२) क्षेत्र विपाकी (जो क्षेत्र विशेष अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जाते समय फल देती हैं) चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ हैं।

(३) भवविपाकी (जो भव अर्थात् पर्याय विशेष में फल देती हैं) चार आयु भव विपाकी हैं।

(४) जीव विपाकी (जो जीव में अपना फल देती हैं) शेष सभी प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं।

(रा.वा. ८/२३)

इन कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है-

**स यथानाम ॥२२॥**

(स) वह अनुभव (यथानाम) अपने नाम के अनुसार फल देता है।

अर्थ - नामानुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पूर्व में उपार्जित नाना प्रकार के कर्मों का विपाक अनुभव है। यह तो जान लिया परन्तु यह नहीं जाना कि उनका अनुभाग प्रसंख्यात है कि अप्रसंख्यात ? ऐसा प्रश्न होने पर यह प्रसंख्यात अनुभव में आता है यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. १ उ./२२)

२. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों का क्या अनुभव है ?

उत्तर : ज्ञानावरण का फल ज्ञान का अभाव करना है। दर्शनावरण का भी फल दर्शन-शक्ति का उपरोध करना है, इत्यादि रूप से सब कर्मों की सार्थक संज्ञा जाननी चाहिए। (सर्वा. ७७६)

नोट - ज्ञानावरणादि का स्वभाव देखें- (८/४)

फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है, उसे कहते हैं-

**ततश्च निर्जरा ॥२३॥**

ततः च निर्जरा ।

अर्थ - फल देकर कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि विपाक अनुभव है तो कर्म आवरण के समान आत्मा में स्थित रहते हैं कि फल देकर नष्ट हो जाते हैं ? इस शंका के उत्तर में यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. २३ उ.) यदि विपाक का नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर वह कर्म आवरण के समान अवस्थित रहता है या फल देने के बाद वह झड़ जाता है ? इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ७७७)

२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द अन्य निमित्तों का समुच्चय करने के लिए दिया है। 'तपसा निर्जरा च' यह आगे कहेंगे, अतः 'च' का प्रयोजन यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से निर्जरा होती है और अन्य प्रकार से भी होती है। (सर्वा. ७७८)

३. प्रश्न : निर्जरा क्या है ?

उत्तर : पूर्वोपार्जित कर्म का झड़ जाना ही निर्जरा है। आत्मा को सुख वा दुःख देकर खाये हुए ओदनादि आहार के मल की तरह स्थिति के क्षय हो जाने के कारण अवस्थान का अभाव होने से पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना नष्ट हो जाना ही निर्जरा है। (रा.वा.१) जिस प्रकार भात आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को पीड़ा (दुःख) और अनुग्रह (सुख) रूप फल देकर पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से स्थिति न रहने के कारण कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है। (सर्वा. ७७८)

४. प्रश्न : निर्जरा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : निर्जरा दो प्रकार की होती है-

(१) विपाकजा निर्जरा (२) अविपाकजा निर्जरा। अथवा

(१) द्रव्य निर्जरा (२) भाव निर्जरा। (द्र.सं. ३६)

भाव निर्जरा के दो भेद :- (१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा (भ.आ. १८४१)

अथवा

(१) अबुद्धिपूर्वा निर्जरा (२) कुशलपूर्वा। (रा.वा. ९/७)



(१) एकदेश निर्जरा (२) सर्वदेश निर्जरा।

५. प्रश्न : विपाकजा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक जाति विशेष रूपी भँवर युक्त चारगति रूपी संसार महासमुद्र में चिरकाल तक परिभ्रमण करने वाले इस जीव के क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलि रूपी स्रोतों में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म का फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। (सर्वा. ७७८)

चिरकाल से संसार भ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावों से उदयावलि स्रोतों से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता-असाता वा अन्यतर जिस रूप में बन्ध हुआ है उसका उस रूप में स्वाभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदयागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाकजा निर्जरा है। (रा.वा.२)

६. प्रश्न : अविपाकजा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म विपाक काल को प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जिन कर्मों का अभी उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी औपक्रमिक क्रिया विशेष के सामर्थ्य से, अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावलि में लाकर पका देना, अनुभव करना अविपाक निर्जरा है, जैसे- कच्चे आम, पनस आदि फलों को प्रयोग से पका दिया जाता है। (रा.वा. २)

आम और पनस को औपक्रमिक क्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं उसी प्रकार जिसका विपाक काल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावलि के बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणा द्वारा उदयावलि में प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। (सर्वा. ७७८)

७. प्रश्न : अबुद्धिपूर्वा एवं कुशलपूर्वा निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अबुद्धिपूर्वा - नरकादि गतियों में कर्मफल विपाक से होने वाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा है, वह अकुशलानुबन्धा है क्योंकि वह पापबन्ध की कारण है।

कुशलपूर्वा - परीषहजय और तप आदि से होने वाली निर्जरा कुशलमूला है जो शुभ कर्म का बन्ध करती है या सर्वथा बन्धरहित होती है। (रा.वा. ९/७)

८. प्रश्न : एकदेश एवं सर्वदेश निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : देशनिर्जरा - चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए जीवों के (समय पाकर) कर्मों के क्षय होनेसे जो निर्जरा होती है उसको देशनिर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है।

सर्वनिर्जरा - बुद्धिमान लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्व निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है।

९. प्रश्न : द्रव्य एवं भावनिर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य निर्जरा - जो कर्म झड़ते हैं वह द्रव्य निर्जरा है। (द्र.सं. ३६ टी.)

शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से नीरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्गलों का संवर पूर्वक भाव से एकदेशक्षय होना द्रव्य निर्जरा है। (पं.का.ता. १४४)

भाव निर्जरा : जीव के जिन भावों से पुद्गल कर्म झड़ते हैं, वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा हैं। कर्मशक्ति के निर्मूलन में समर्थ जीव का शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है। (पं.का.ता. १४४) (द्र.सं. ३६ टी.)

१०. प्रश्न : संवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिए क्योंकि जैसा उद्देश्य होता है वैसा ही निर्देश होता है ?

उत्तर : यद्यपि संवर के बाद निर्जरा के कथन का क्रम आता है फिर भी अनुभव के अनुवाद का परिहार करने के लिए यहाँ कहा गया है, क्योंकि वहाँ पर निर्जरा का पाठ करने पर पुनः 'विपाकोऽनुभवः' का पुनर्कथन करना पड़ता अतः लाघव के विचार से विपाक के बाद ही निर्जरा का वर्णन कर दिया गया है। (रा.वा. ४)

थोड़े में बोध कराने के लिए यहाँ निर्जरा का उल्लेख किया है। संवर के बाद पाठ देने पर 'विपाकोऽनुभवः' इसका फिर से कथन करना पड़ता। (सर्वा. ७७८)

प्रदेश बन्ध

**नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः  
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥**

नाम-प्रत्ययाः सर्वतः-योगविशेषात्-सूक्ष्म-एक-क्षेत्र-अवगाहस्थिताः सर्व-आत्म-प्रदेशेषु-अनन्तानन्त-प्रदेशाः ।

(नामप्रत्ययाः) अपने नाम के अनुसार (सर्वतः) सभी भवों में (योगविशेषात्) योग की विशेषता से (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सभी प्रदेशों में (सूक्ष्म) सूक्ष्म (एक क्षेत्रावगाहस्थिताः) एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थित (अनन्तानन्तप्रदेशाः) अनन्तानन्त कर्म पुद्गल आते हैं, वह प्रदेशबन्ध है।

अर्थ - अपने नाम के अनुसार, सभी भवों में योग विशेष से आने वाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही, अनन्तानन्त कर्मपुद्गल प्रदेशबन्ध है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उस प्रदेश बन्ध के कथन में इनका निर्देश करना चाहिए कि यह प्रदेशबन्ध किन कारणों से होता है ? कब होता है ? कहाँ से होता है ? किस स्वभाव वाला होता है ? किसमें होता है ? कितने परिमाण में होता है ? उसके लिए यह यथासंख्य परिगृहीत प्रश्न की अपेक्षाभेद से सूत्र का वर्णन किया है। (रा.वा. उ.२४)

२. प्रश्न : 'नाम प्रत्ययाः' इस पद का नामकर्म है कारण जिनका, ऐसा समास करना चाहिए ?

उत्तर : 'नामप्रत्ययाः' इस पद का नामकर्म है कारण जिनका ऐसा विग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर ग्रन्थ (आगम) का विरोध आता है, अर्थात् ऐसा समास करने पर सर्व कर्म प्रकृतियों का नामकर्म ही कारण हो जायेगा, अतः आगम के विरुद्ध होने से नाम के अनुसार ही प्रदेशबन्ध होता है। नामप्रत्यय इससे हेतु का निर्देश किया है। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : सूत्र में 'सर्वतः' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सभी भवों में होने वाला 'सर्वतः' कहा जाता है। अन्यतः भी देखा जाता है, इस प्रकार 'तस्' प्रत्यय करने पर सर्व भवों में होने वाला 'सर्वतः' ऐसा बनता है। इस 'सर्वतः' शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। एक जीव के अतिक्रान्त अनन्त भव और आगामी असंख्यात संख्यात एवं अनन्त भव होते हैं। उन सर्व भवों में कर्मों का आस्रव होता है। (रा.वा. २)

सर्वतः प्रदेश बन्ध सभी भवों में होता है। 'सर्वेषु भवेषु इति सर्वतः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। सर्व शब्द से "दृश्यतेऽन्यतोऽपि" इस सूत्र द्वारा 'तसि' प्रत्यय करने पर 'सर्वतः' पद बनता है। इस पद द्वारा काल का ग्रहण किया गया है। एक-एक जीव के व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी संख्यात, असंख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं। (सर्वा. ७८०)

४. प्रश्न : सूत्र में 'योगविशेषात्' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'योगविशेष' वचन निमित्त के निर्देश के लिए है। मन, वचन, काय रूप योग का लक्षण पूर्व (छठे अध्याय) में कह दिया गया है। परस्पर विशिष्य होता है वह विशेष है। योग विशेष मन, वचन, काय के निमित्त से कर्म रूप पुद्गलों का आगमन होता है, अतः इस योगविशेष से निमित्त का निर्देश किया गया है। (रा.वा. ३)

५. प्रश्न : सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण कर्मयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए किया है। कर्म रूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं। (रा.वा. ४)

६. प्रश्न : लोक में कितने पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होने के योग्य हैं ?

उत्तर : एक अथवा अनेक क्षेत्रों में स्थित पुद्गल द्रव्य के अनन्तवें भाग पुद्गल-परमाणुओं का समूह कर्म रूप होने योग्य है। और शेष (अनन्त बहुभाग) भाग प्रमाण कर्मरूप होने के अयोग्य है।

पुद्गल द्रव्य कर्म चार प्रकार के हैं-

(१) एक क्षेत्र योग्य (२) एकक्षेत्र अयोग्य (३) अनेक क्षेत्र योग्य (४) अनेक क्षेत्र अयोग्य।

इन सभी के सादि - अनादि आदि के भेद से आठ भेद होते हैं। (गो.क. १८७)

७. प्रश्न : एकक्षेत्र एवं अनेक क्षेत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक शरीर से रुके हुए स्थान को एकक्षेत्र कहते हैं। यद्यपि शरीर अवगाहना के स्थान जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट पर्यन्त अथवा समुद्घात की अपेक्षा लोकपर्यन्त है तथापि बहुत जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की (जघन्यरूप) अवगाहना को धारण करने वाले हैं अतः मुख्यता से एकक्षेत्र का प्रमाण घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र कहा है। इतने प्रमाण क्षेत्र के बहुत प्रदेश हैं अतः प्रदेशों की अपेक्षा ये भी अनेक क्षेत्र हैं तथापि विवक्षा से यहाँ इस क्षेत्र को एक क्षेत्र कहा है। इस क्षेत्र को छोड़कर अवशेष लोकाकाश के सर्वक्षेत्र अनेकक्षेत्र हैं। (गो.क. १८६)

८. प्रश्न : सादि एवं अनादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट समयप्रबद्ध के प्रमाण को अतीतकालीन समयों से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उसे सर्व जीव राशि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त होवे वह सर्व सादि द्रव्य का प्रमाण है। तथा इस सादि द्रव्य को सर्व पुद्गलराशि के प्रमाण में से घटाने पर जो शेष रहे वह अनादि पुद्गल द्रव्य का प्रमाण है। (गो.क. १८८)

९. प्रश्न : योग्य सादि द्रव्य तथा अयोग्य सादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक क्षेत्र सम्बन्धी सादि द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर एक भाग प्रमाण एक क्षेत्र सम्बन्धी कर्मरूप होने योग्य सादि द्रव्य है। तथा अवशेष भाग प्रमाण एक क्षेत्र सम्बन्धी अयोग्य सादि द्रव्य है।

इसी प्रकार अनेक क्षेत्र सम्बन्धी सादि द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर एक भाग प्रमाण अनेकक्षेत्र स्थित योग्य सादि द्रव्य तथा शेष भाग प्रमाण अनेक क्षेत्र अयोग्य सादि द्रव्य जानना चाहिए। (गो.क. १८९)

१०. प्रश्न : योग्य अनादि द्रव्य एवं अयोग्य अनादि द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक क्षेत्र में स्थित योग्य द्रव्य में से योग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर एक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य प्राप्त होता है, तथा एक क्षेत्र स्थित अयोग्य द्रव्य में से अयोग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर एक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य आता है। इसी प्रकार अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य में से योग्य सादि द्रव्य के घटा देने पर अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य आता है।

अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य (अनादि) द्रव्य में से अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य सादि द्रव्य को घटा देने पर अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य प्राप्त होता है। (गो.क. १९०)

११. प्रश्न : जीव कौन-कौनसी वर्गणाओं को ग्रहण करता है ?

उत्तर : यह जीव योग व मिथ्यात्व के निमित्त से प्रति समय कर्म रूप परिणमने योग्य समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं को ग्रहण करके कर्म रूप परिणमाता है। उनमें किसी समय तो पहले ग्रहण किये हुए सादि द्रव्य परमाणुओं को ही ग्रहण करता है तथा किसी समय अभी तक नहीं ग्रहण किए गये अनादि द्रव्य रूप परमाणुओं को ग्रहण करता है एवं कभी-कभी दोनों रूप परमाणुओं को ग्रहण करता है। (गो.क. १९०)

१२. प्रश्न : सूत्र में 'एकक्षेत्रावगाहः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'एकक्षेत्रावगाह' वचन क्षेत्रान्तर की निवृत्ति के लिए है। आत्मप्रदेश और कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अधिकरण (आधार) एक ही है, भिन्न-भिन्न अधिकरण नहीं हैं अतः भिन्न अधिकरण की निवृत्ति के लिए 'एकक्षेत्रावगाह' यह पद दिया गया है। (रा.वा.५)

१३. प्रश्न : सूत्र में 'स्थिताः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'स्थिताः' पद का प्रयोग क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए है। स्थित ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नहीं। इस प्रकार क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए 'स्थिताः' इस पद का ग्रहण किया है। (रा.वा. ६)

१४. प्रश्न : सूत्र में "सर्वात्मप्रदेशेषु" पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में सर्व आत्मप्रदेशों में कहने पर एक प्रदेश आदि का निषेध किया गया है। एक, दो, तीन, चार आदि प्रदेशों में आत्मा के कर्मप्रदेशों की प्रवृत्ति नहीं है अपितु ऊपर, नीचे, बीच में सब जगह सर्वात्म प्रदेशों में व्याप्त होकर प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्म पुद्गल स्थित है। इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' यह पद दिया है। (रा.वा. ७)

१५. प्रश्न : सूत्र में 'अनन्तानन्तप्रदेशाः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : अनन्तानन्त प्रदेश वचन का ग्रहण प्रमाणान्तर के निराकरण के लिए है। ये न तो संख्यात हैं न असंख्यात हैं न अनन्त हैं अपितु अनन्तानन्त हैं, इसका प्रतिपादन करने के लिए अनन्तानन्त शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए ये पुद्गल स्कन्ध अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। वे घनाङ्गुल के असंख्येय भाग रूप क्षेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने के योग्य पुद्गल वर्गणार्थे आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं। (रा.वा. ८)

१६. प्रश्न : एक समय में ग्रहण किये गये समयप्रबद्ध का बँटवारा किस क्रम से होता है ?

उत्तर : सभी मूल प्रकृतियों में आयु कर्म का भाग स्तोक है, नाम व गोत्र कर्म का भाग आपस में समान है तो भी आयुकर्म के भाग से अधिक है। अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन घातिया कर्मों का भाग आपस में समान है तो भी नाम व गोत्र कर्म से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय कर्म से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। (गो.क. १९२)

१७. प्रश्न : कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में बँटवारा किस प्रकार होता है ?

उत्तर : उत्तर प्रकृतियों में मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेदों में क्रम से हीन-हीन द्रव्य है।

नाम व अन्तराय कर्म के भेदों में क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य है।

वेदनीय, गोत्र और आयु कर्म के भेदों में बँटवारा नहीं होता क्योंकि इनकी एक काल में एक ही प्रकृति बँधती है। अतः इनको मूल प्रकृति के समान ही द्रव्य मिलता है। (गो.क. १९६)

पुण्य प्रकृतियाँ-

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

सद् वेद्य-शुभ-आयुः- नाम- गोत्राणि-पुण्यम्।

अर्थ - सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : बन्ध पदार्थ के अनन्तर पुण्य-पाप के वर्णन का कथन है, उस पुण्य-पाप का वर्णन बन्ध में अन्तर्भूत है, ऐसा वर्णन किया है। यहाँ पुण्यबन्ध क्या है ? और पापबन्ध क्या है ? ऐसी आशंका होने पर पुण्य प्रकृतियों की परिगणना करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. २५)

२. प्रश्न : पुण्य प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : सातावेदनीय, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु तथा नाम कर्म की-मनुष्यगति-देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, वज्र-वृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श, मनुष्य एवं देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण एवं तीर्थकर तथा गोत्र कर्म में से उच्च गोत्र ये बयालीस प्रकृतियाँ शुभ हैं। (रा.वा. ३)

३. प्रश्न : तिर्यञ्च गति अशुभ है, तिर्यञ्चायु शुभ क्यों है ?

उत्तर : यद्यपि तिर्यञ्चगति अशुभ है और तिर्यञ्चायु शुभ है क्योंकि तिर्यञ्च गति में कोई जाना नहीं चाहता है, परन्तु तिर्यञ्चगति में पहुँच जाने पर वहाँ से निकलना कोई नहीं चाहता है अतः आयु पुण्य प्रकृति है और तिर्यञ्चगति अशुभ है। (रा.वा. २)

पाप प्रकृतियाँ-

अतोऽन्यत् पापम् ॥२६॥

अतः अन्यत्-पापम्।

अर्थ - पुण्य प्रकृति से बची शेष प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

१. प्रश्न : पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय (सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व बिना) पाँच अन्तराय की तथा नामकर्म में से तिर्यञ्चगति, नरकगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय तथा अयशस्कीर्ति, ये चौतीस प्रकृतियाँ नामकर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय और नीच गोत्र ये मिलकर बयासी पाप प्रकृतियाँ हैं।

२. प्रश्न : ये कर्म प्रकृतियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : ये कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकार की होती हैं-

(१) घाती कर्मरूप (२) अघाती कर्म रूप। (ध. ७/६२)

**घाती कर्म** - जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं वे घातिया कर्म हैं। (क.प्र. ९) जो जीव के देवत्व गुण का घात करते हैं उन्हें घातिया कर्म कहते हैं।

**अघातिया कर्म** - जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करने में असमर्थ हैं वे अघातिया कर्म हैं। (क.प्र. ९)

३. प्रश्न : कौन-कौन से कर्म घातिया हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन कर्मों की घातिया संज्ञा है। (क.प्र. ९)

४. प्रश्न : इन्हें घाती कर्म क्यों कहते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्व तथा 'च' शब्द से सूचित क्षायिक चारित्र और क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग रूप क्षायिक गुणों को, तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणों को भी ये ज्ञानावरणादि कर्म घात करते हैं इसलिए इन्हें घातिया कर्म कहते हैं। (क.प्र. १०)

केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य रूप जो अनेक भेद-भिन्न-भिन्न जीवगुण हैं, उनके उक्त कर्म विरोधी होते हैं इसलिए वे घातिया कर्म कहलाते हैं। (ध. ७/६२)

५. प्रश्न : घातिया कर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : घातिया कर्म दो प्रकार के हैं-

(१) देशघाती (२) सर्वघाती।

देशघाती - एकदेश रूप से आत्मगुणप्रच्छादक शक्तियाँ देशघाती स्पर्धक कहे जाते हैं। (द्र.सं. ३४ टी.)

सर्वघाती - अपने से प्रतिबद्ध जीव के गुण को पूरी तरह से घातने का जिस अनुभाग का स्वभाव है उस अनुभाग को सर्वघाती कहते हैं। (ज.ध. ५/११)

सर्व प्रकार से आत्मगुण प्रच्छादक कर्मों की शक्तियाँ सर्वघाती स्पर्धक कहे जाते हैं। (द्र.सं. ३४ टी.)

६. प्रश्न : कौनसी प्रकृतियाँ देशघाती हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरण की चार (केवलज्ञानावरण के बिना), दर्शनावरण की तीन (चक्षुदर्शनादि), अन्तराय की पाँच, सम्यक् प्रकृति, संज्वलन चतुष्क और नौ नोकषाय इस प्रकार ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं। (रा.वा. २३/७)

७. प्रश्न : कितनी प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं ?

उत्तर : केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्राएँ, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क, प्रत्याख्यान चतुष्क, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व ये इक्कीस (२१) सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। (रा.वा. २३/७)

८. प्रश्न : जीवविपाकी कर्म प्रकृतियों को घातिया क्यों नहीं माना ?

उत्तर : नहीं माना, क्योंकि उनका काम अनात्मभूत सुभग, दुर्भग आदि जीव की पर्यायें उत्पन्न करना है, जिससे उन्हें जीव गुण विनाशक मानने में विरोध उत्पन्न होता है। (ध. ७/६३)

नोट : जीवविपाकी कर्म, देखें (८/२१)

९. प्रश्न : अघातिया कर्म कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं। (क.प्र. ९)

१०. प्रश्न : वेदनीय कर्म को घातिया कर्म क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं कहा, क्योंकि वह घातिया कर्मों का सहायक मात्र है और घातिया कर्मों के बिना अपना कार्य करने में असमर्थ है तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है। इसी बात को बताने के लिए वेदनीय को घातिया कर्म नहीं कहा है। (ध. ७/६३)

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

